संस्थापक संपादक : दूधनाथ सिंह : 1975

पक्षधर

प्रतिरोध की संस्कृति का रचनात्मक हस्तक्षेप

वर्ष : 13 अंक : 27 जुलाई-दिसम्बर, 2019

संपादक
विनोद तिवारी

संपादन सहयोग
अजय आनंद
सूरज त्रिपाठी

पक्षधर पुस्तिका-3
राष्ट्रवाद और गोरा

अक्षर संयोजन

कम्प्यूटेक सिस्टम

ई-17, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32

आवरण चित्र : अँधेरे में आकृति : रवींद्रनाथ टैगोर

मूल्य

एक प्रति : ₹ 100

सदस्यता

वार्षिक : ₹ 250

संस्थाओं के लिए : ₹ 300 (डाक खर्च सहित)

पंचवार्षिक : ₹ 1000

आजीवन : ₹ 5000

विदेश के लिए : 100 $

संपादन/प्रकाशन : अवैतनिक/अव्यावसायिक

स्वामी-संपादक-प्रकाशक-मुद्रक विनोद तिवारी, सी-4/604, ऑलिव काउण्टी, सेक्टर-5, वसुंधरा, गाजियाबाद-201012 के लिए बी.के. ऑफसेट, एफ-93, पंचशील गार्डेन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032 से प्रकाशित और मुद्रित।

प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है। संपादक और लेखक की अनुमति के बिना प्रकाशित सामग्री के किसी भी तरह के उपयोग की अनुमति नहीं होगी।

सम्पर्क

सी-4/604, ऑलिव काउण्टी, सेक्टर-5

वसुंधरा, गाजियाबाद-201012

फ़ोन : 0120-4572303

मो. 09560236569

ई-मेल : pakshdharwarta@gmail.com

वेब पता : www.pakshdhar.com

PAKSHDHAR

A Bi-Annual Literary Magazine

Editor : Vinod Tiwari

Language : Hindi

ISSN : 2231-1173

अनुक्रम

संपादकीय

आमार संगे कथा बोलबे बोले 5

आलेख

बांग्ला उपन्यास धारा और गोरा : कुछ साम्प्रतिक प्रसंग / **रामशंकर द्विवेदी** 7

गोरा व तत्कालीन समाज / **श्रीनारायण पाण्डेय** 24

रवींद्रनाथ लिखित 'गोरा' और भारतीय देशभक्ति की असाध्य समस्या / **तनिका सरकार** (अनु. : धर्मराज कुमार) 32

गोरा : अस्मिता का आख्यान और आख्यान की अस्मिता / **मदन सोनी** 52

'गोरा' में खचित जटिल समय / **गोपाल प्रधान** 67

अनुवाद की सांस्कृतिक राजनीति / **अबु सालेह** (अनु. रामकीर्ति शुक्ल) 71

गोरा : संवादधर्मी आधुनिकता का उदय / **वैभव सिंह** 79

नवजागरण की यात्रा में रवींद्रनाथ टैगोर का 'गोरा' / **अमरेन्द्र कुमार शर्मा** 91

गोरा—भारतीयता की खोज : एक अंतर्यात्रा / **विनोद तिवारी** 103

आमार संगे कथा बोलबे बोले

रवींद्रनाथ टैगोर अपने युग के एक विलक्षण प्रतिभा संपन्न साहित्यकार, कलाकार, दार्शनिक और चिंतक थे। उनका जीवन-कर्म विश्व-मानवता की बेहतरी के लिए किए गए उनके प्रयासों के कारण पहचाना जाता है। उनका सम्पूर्ण लेखन, चिंतन और सार्वजनिक जीवन इस बात की गवाही देते हैं कि मनुष्यता को बचाए रखना सबसे मूल्यवान और नैतिक कार्य है। चंडीदास के 'सबारि ऊपर मानुष सत्य' में गुरुदेव की अगाध आस्था थी और इस आस्था व विश्वास से वे कभी भी डिगे नहीं। वे मानवता के पक्ष में सदैव खड़े रहे। उन्होंने कभी भी गुलामी, उपनिवेशवाद, अंधराष्ट्रीयतावाद, साम्राज्यवाद, फासीवाद, युद्ध, कट्टरता और हमलावर नीतियों का समर्थन नहीं किया। इनके विरूद्ध न केवल नैतिक विरोध बल्कि संघर्ष और प्रतिरोध के लिए खुलकर सामने भी आए। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जब अबीसीनिया, स्पेन, चीन और चेकोस्ल्वाकिया में, जिस तरह से फासिस्टवादी ताकतों के हमले हो रहे थे उसके विरोध में दुनिया भर के लेखकों, बुद्धिजीवियों और संस्कृतिकर्मियों ने, जिनमें से कई नोबल पुरस्कार से सम्मानित लोग भी थे, अपना विरोध जताया। रवींद्रनाथ टैगोर ने उस 'लीग अगेन्स्ट फासिज्म एंड वार' की भारतीय शाखा की अध्यक्षता करते हुए फासीवाद के विरुद्ध आम जनता को एकजुट होने का आह्वान किया। हम जानते हैं ब्रिटिश हुकूमत द्वारा जलियाँवालाबाग नरसंहार के खिलाफ़ उन्होंने 'नाईटहुड' का तमगा लौटा दिया था। आज जिस तरह का कट्टरवाद और सैन्यवाद बढ़ा है, आक्रामक राजनीति और धार्मिक उन्माद का वातावरण तैयार किया गया है, उससे पूरी दुनिया में फासीवाद का खतरा एक बार फिर से मंडराने लगा है। ऐसे नाजुक वक़्त में रवींद्रनाथ टैगोर जैसे मनीषियों के सोच-विचार और लेखन को पुनः पढ़े जाने की जरूरत है। आधुनिक भारतीय लेखकों, साहित्यकारों और चिंतकों में रवींद्रनाथ टैगोर की जो वैश्विक व्याप्ति और स्वीकृति है वह शायद किसी की नहीं। टैगोर का अपने समय के प्रायः सभी लेखकों, बुद्धिजीवियों, वैज्ञानिकों, दर्शनिकों से संवाद था। हेनरी बर्गसाँ, जार्ज़ बर्नार्ड शॉ, थामस मान, राबर्ट फ्रॉस्ट, एच. जी. वेल्स, अल्बर्ट आइन्स्टीन, रोम्या रोलां जैसे लोगों से उन्होंने मुलाक़ात की थी, उनसे मानवता के हित के संबंध में बातचीत की थी। आधुनिक विश्व की साहित्यिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक बिरादरी में गांधी, टैगोर और प्रेमचंद ये तीन ही ऐसे नाम हैं जिन्हें वैश्विक मानवता के विकास और भलाई में अमन और शान्ति के नजीर के तौर पर पेश किया जाता है।

रवींद्रनाथ टैगोर ने साहित्य और कला की प्रायः हर विधा में लेखन और सृजन का कार्य किया है। उनका लेखन और सृजन प्रचुर है। उन्होंने, कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास, डायरी, पत्र, यात्रा-वृतांत, आलोचना, निबंध सब पर लिखा है। चित्रकला और संगीत में भी उनका सृजन महत्वपूर्ण है। ऐसे कृति व्यक्ति के रचनात्मक लेखन से उनके एक उपन्यास 'गोरा' को 'पक्षधर'

की विशेष प्रस्तुति के लिए चुनने के पीछे दो कारण हैं। एक तो यह कि हिंदी में आलोचनात्मक रूप से इस विश्व प्रसिद्ध उपन्यास पर बहुत ही कम लिखा गया है। दूसरे, पूरी दुनिया में इस समय धर्म और राष्ट्रवाद को लेकर जो एक नए तरह का सैन्यवादी उन्माद और कट्टरता बढ़ी है, उसमें आज एक सौ दस साल बाद भी 'गोरा' 'हिंदुत्व' और 'राष्ट्रवाद' की समकालीन बहस के लिए एक जरूरी पाठ बन जाता है। इस संदर्भ में, कन्नड़ भाषा के दुनिया भर में प्रसिद्ध लेखक और विद्वान यू. आर. अनंतमूर्ति की आत्मकथा 'सुरागी' में दर्ज एक प्रसंग की याद ताज़ा हो आयी। दिसंबर 1992 में अयोध्या में बाबरी मस्जिद ढहाए जाने के बाद अनंतमूर्ति (जो उस समय साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली के अध्यक्ष थे) लिखते हैं—"1992 में बाबरी मस्जिद विध्वंस के बाद पूरे देश में जो घटाटोप अंधेरा छ गया था, मैं तब साहित्य अकादेमी का अध्यक्ष था। हमने यह तय किया कि हम पूरे देश में 'गोरा' उपन्यास पर सेमिनार करेंगे और देश भर में जगह-जगह इसका पाठ करने को प्रोत्साहित करेंगे।...हिंदुत्व और उससे भी आगे भारतीयता के मूल तत्व की समझ बनाने में गोरा से बेहतर पाठ मेरी नज़र में दूसरा नहीं है।"

कहना न होगा कि 'गोरा' भारतीयता की मूल आत्मा और चेतना से निकला एक ऐसा आख्यान है जो एक साथ औपनिवेशिक 'पर' बनाम जातीय 'स्व', धार्मिक कट्टरता बनाम सार्वभौम मानवता, राष्ट्रवाद बनाम भारतीयता, मातृभूमि बनाम देशप्रेम की बहस को अत्यंत ही सारगर्भित रूप से रचता है और अंततः धर्म, राष्ट्र, जाति, भूगोल आधारित राष्ट्रवादी अस्मिता की संकीर्णताओं और कट्टरताओं के सामने भारतीयता को महत्तम सिद्ध कर देता है। अतः, यह उपन्यास न केवल गुरुदेव रबींद्रनाथ टैगोर की विश्व-दृष्टि को समझने-जानने का एक रचनात्मक 'पाठ' है बल्कि हिंदू धर्म की मूल चेतना और भारतीयता की धारणा को भी समझने के लिए एक जरूरी 'पाठ' है। तभी तो वह गोरा से भी कहलवाते हैं, "समूची इंसानियत का क्या मतलब है यह आप समझती हैं? उसमें कितनी तरह के स्वभाव हैं—कैसे-कैसे रुझान हैं, क्या-क्या जरूरतें हैं? सभी आदमी एक ही रास्ते पर एक जगह खड़े नहीं हैं। किसी के सामने पहाड़ है, किसी के सामने सागर, किसी के सामने जंगल फिर भी किसी के लिए बैठे रहने का मौका नहीं है, सभी को आगे बढ़ते ही जाना है।...मुझे और कुछ नहीं कहना है—भारतवर्ष को आप अपनी सहज बुद्धि से, सहज मन से देखें, उसे प्यार करें।"

इस विशेष प्रस्तुति के लिए शामिल लेखों में से मदन सोनी, वैभव सिंह और अमरेन्द्र कुमार शर्मा के लेख पहले अन्यत्र प्रकाशित हो चुके हैं। रामशंकर द्विवेदी, श्रीनारायण पांडेय और गोपाल प्रधान के लेख इसी अंक के लिए लिखे गए हैं। तनिका सरकार और अबू सालेह के लेख मूलतः अंग्रेजी में लिखे गए हैं जिनका हिंदी अनुवाद रामकीर्ति शुक्ल और धर्मराज कुमार ने किया है। इस सहयोग के लिए मैं सभी का अत्यंत आभारी हूँ। उन पत्रिकाओं का विशेष आभार; जहाँ ये लेख पूर्व प्रकाशित हैं। मेरा लेख संपादकीय लिखने के क्रम में इतना बड़ा होता चला गया कि उसे अंत में लेख के रूप में देना पड़ा। इस आत्म-प्रकाशन के लिए पाठक क्षमा करेंगे।

विनोद तिवारी

बांग्ला उपन्यास धारा और गोरा : कुछ साम्प्रतिक प्रसंग

रामशंकर द्विवेदी

बांग्ला-उपन्यास की यात्रा 'अलालेर घरेर दुलाल' से प्रारम्भ होती है। यों तो सन् 1800 ई. में फोर्ट विलियम कॉलेज के कर्त्ता-धर्त्ताओं ने अपने कर्मचारियों को देशी भाषाओं की शिक्षा देने के लिए जो वर्नाक्यूलर पाठ्यक्रम बनाया था, उसी के तहत बांग्ला पुस्तकों का भी पाठ्यक्रम बना और अनुवाद के माध्यम से बांग्ला गद्य का आविर्भाव हुआ, किन्तु बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय के उपन्यास साहित्य के पहले प्यारी चाँद मित्र के 'अलालेर घरेर दुलाल' (अलाल के घर का लाड़ला, 1858) को ही बांग्ला का पहला उपन्यास माना जाता है। बांग्ला साहित्य के आदर्शानुसार नॉवेल अथवा उपन्यास कहने से जो समझा जाता है, बांग्ला साहित्य के इतिहासकार डॉ. सुकुमार सेन का कहना है ''विलायती आदर्शानुसार नावेल अथवा उपन्यास कहने से जो समझा जाता है, बांग्ला-साहित्य में उसका सूत्रपात 'अलालेर घरेर दुलाल' से ही होता है। हाँ, इसके पहले किसी-किसी लेखक ने कपोल-कल्पित अपनी कहानी का अवलम्बन कर आख्यायिका, प्रणय कहानी आदि की रचना की थी। किन्तु, वे सब Tale (टेल) अथवा कहानी मात्र हैं, नॉवेल अथवा उपन्यास नहीं।'' (बांग्ला साहित्येर गद्य, पृष्ठ 64)

डॉ. सेन ने उपन्यासों के प्रधान लक्षण तीन माने हैं : कहानी का सम्भाव्य यथार्थ, पृष्ठभूमि की योजना में मानव-सुलभ परिवर्तन और परिणमनशीलता एवं विविध चरित्रों के विचित्र (घटनाओं के) घात-प्रतिघात के कारण बहुमुखीनता। उन्होंने आगे लिखा है : ''उपन्यास के द्वारा लेखक अगर किसी विशेष शिक्षा, मत अथवा नीति-गत उपदेश का प्रचार करना चाहता है तो उससे रसमयता को क्षति पहुँच सकती है किन्तु, अगर उसमें पूर्वोक्त लक्षण मिलते हैं तो उसे कहा उपन्यास ही जाएगा। डिकेन्स (Dickens) ने, अपने अधिकांश उपन्यासों की रचना किसी-न-किसी विशेष उद्देश्य से प्रेरित होकर की थी, फिर भी वह अंग्रेजी साहित्य का प्रेरक, उपदेशात्मक होने पर भी उपन्यास की परिधि में ही आ आएगा।'' (वही, पृष्ठ 64)।

'अलालेर घरेर दुलाल' को कई आलोचकों ने पूर्ण उपन्यास का दर्जा नहीं दिया हैं किन्तु उसकी भाषा की बहुत प्रशंसा की है। इसकी भाषा-शैली में अनुकरण पर काली प्रसन्न सिंह

ने (1840-70) 'हुतोम प्यांचार नक्शा' (1862) की रचना की थी।

बांग्ला उपन्यास-धारा के क्रमिक विकास की दृष्टि से आलोचक मोहित लाल मजूमदार का कथन उल्लेखनीय है : उनका कहना है बांग्ला साहित्य में उपन्यास विधा का क्रमिक विकास नहीं होता है, अवयवों से पूर्ण और सर्वांण सुन्दर उपन्यास सच्ची दृष्टि की तरह, बंकिमचन्द्र की प्रतिभा से ही 'वृन्तहीन पुष्प सम' प्रस्फुटित हो उठा था। रचना-रीति अथवा 'स्टाइल' की दृष्टि से बंकिम की मौलिकता शुरू से ही प्रस्फुटित हो गई थी। बंकिम के पहले जो सब आख्यायिकाएँ अथवा कहानी लिखी गई थीं, उनमें और बंकिम में बहुत बड़ा फ़र्क था। पहले के लेखकों की भूमिका, पाठकों की दृष्टि से एक मध्यस्थ अथवा तटस्थ, निरपेक्ष बकता मात्र की थी। बंकिम के उपन्यासों में लेखक की भूमिका हो गई एक अन्तरंग सुहृद की। जिसे विदग्ध रीति कहते हैं, बांग्ला भाषा में बंकिम ने उसी का प्रवर्तन किया' उनके उपन्यासों की संख्या चौदह है; दुर्गेशनन्दिनी (1865), कपाल कुण्डला (1866), मृणालिनी (1869), विषवृक्ष (1813) इन्दिरा (1873), युगलांगुरीय (1874), राघारानी (1875), चन्द्रशेखर (1875), रजनी (1877), कृष्णकान्त का बिल (1878), राजसिंह (1882), आनन्दमठ (1882), देवी चौधुरानी (1882), और सीताराम (1887)।

बंकिम के उपन्यासों का मूल्यांकन दो दृष्टियों से किया जाता है। एक तो बांग्ला गद्य को साहित्यिक और प्रौढ़ रूप देने की दृष्टि से, दूसरे विषय वस्तु और पात्र-संरचना की दृष्टि से। रवींद्रनाथ ने लिखा है : एक दिन हमारी बांग्ला भाषा केवल एकता से बँधी हुई थी, वह केवल सहज सुर में धर्म-संकीर्तन के लिए उपयोगी थी, बंकिम ने अपने हाथ से उसमे एक-एक करके तार चढ़ाए और इस तरह आज उसे वीणा का रूप दे दिया। (रवींद्र रचना संचयन-बंकिम चन्द्र' पृ. 699, साहित्य अकादमी।)

बंकिमचन्द्र के बाद बांग्ला साहित्य में जिस असामान्य प्रतिभा का उदय हुआ था वे है रवींद्रनाथ। काव्य, नाटक, लघुगल्प और निबन्ध लेखन की तरह उन्होंने उपन्यास के क्षेत्र में भी युगान्तर ला दिया। रवींद्रनाथ का प्रधान लक्षण है ऐतिहासिक उपन्यासों का लोप और सूक्ष्म मनोविश्लेषण प्रधान वस्तुनिष्ठ उपन्यास-रचना का सूत्रपात।

रवींद्र जीवनीकार प्रभात कुमार मुखोपाध्याय ने रवींद्रनाथ के उपन्यासों की चर्चा करते हुए उनके प्रकाशन का कालक्रमानुसार इस प्रकार विवरण दिया है : रवींद्रनाथ की सोलह वर्ष की उम्र से लेकर तिहत्तर वर्ष की उम्र के बीच उनके जितने उपन्यास लिखे गये, उनके मध्य में पड़ता है उनका सबसे बड़ा उपन्यास 'गोरा' सोलह वर्ष की उम्र में लिखे प्रथम उपन्यास 'करुणा' (भारती, 1284-85) अगर अधूरा होने के कारण इसे हम लोग गिनती में न रखे तो 'गोरा' के पहले लिखे हुए उनके उपन्यास हैं 'बऊ ठकुरानी', 'हाट' (भारती, 1288-99), राजर्षि (बालक, 1292), 'चोखेर बालि' (बंग दर्शन, 1308-9), चिर कुमार समी' (भारती 1306-8), 'नष्टनीड़' (भारती, 1309), नौका डुबि (बंग दर्शन, 1310-12)। 'गोरा' धारावाहिक रूप में हर मास 1314 बंगीय वर्ष में भादों के महीने में 'प्रवासी' में प्रकाशित होना शुरू हुआ और समाप्त हुआ 1316 बंगाब्द के फाल्गुन मास में। 'गोरा' के बाद रवींद्रनाथ ने लिखा चतुरंग (सबुजपत्र 1321), 'घरे बाइरे' (सबुजपत्र 1322), 'योगायोग' (विचित्रा, 1339), शेषेर कविता (प्रवासी, 1335)। दुइबोन (विचित्र, 1339), मालंच (विचित्र, 1340) चार अध्याय (1341)। प्रभात कुमार ने लिखा है 'गोरा' से पहले छब्बीस वर्ष में लिखे गये थे यह उपन्यास एवं 'गोरा' के बाद सत्ताईस वर्ष में लिखे गये सात उपन्यास। सुतराम रवींद्र प्रतिभा के मध्याह्न में 'गोरा' की रचना का सूत्रपात होता है। सैंतालीस वर्ष की उम्र में प्रारम्भ एवं उन्चास वर्ष की उम्र में उन्होंने

अन्त किया। (रवींद्र जीवनी, द्वितीय खंड, पृष्ठ 234, सं. 1961)

रवींद्रनाथ के उपन्यासों में यह सबसे बड़ा उपन्यास है। इसमें घटनाओं और पात्रों की संख्या भी अधिक है। इतने बड़े और महत्त्वपूर्ण उपन्यास की पृष्ठभूमि तथा प्रेरणा से अभिज्ञ होना बहुत जरूरी है।

गोरा में रवींद्रनाथ ने जो कहानी चुनी है वह है उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम अंश का चौथाई भाग। प्रभात कुमार मुखोपाध्याय ने इसकी पृष्ठभूमि की चर्चा करते हुए लिखा है : ''बंगाल के शिक्षित समाज के ऊपर ब्रह्मसमाज का प्रभाव उन दिनों अत्यन्त प्रबल था। ब्रह्मानन्द केशवचन्द्र सेन उन दिनों, जीवित थे, आचार्य के उपदेश सुनने का प्रसंग 'गोरा' उपन्यास में ही है, गोरा की उम्र उस समय पच्चीस वर्ष थी, सिपाही विद्रोह के समय उसका जन्म अर्थात् 1857 ईस्वी को मान लेना चाहिए।'' सुतराम, कहानी का प्रारम्भ जहाँ पर हुआ है, वहाँ से अगर हिसाब लगाया जाए तो लेखक ने जन ग्रन्थ लिखना शुरू किया तो उस समय से पच्चीस वर्ष पूर्व की घटना शुरू किया तो उस समय से पच्चीस वर्ष पूर्व की घटना है, कारण, 'गोरा' का लिखना शुरू होता है 1907 ईस्वी में। इन सब काल्पनिक सन्-तारीख का यदि हिसाब लगाया जाए तो 'गोरा' उपन्यास की कहानी का काल 1982-83 ईस्वी अथवा बंगाब्द 1288-89 साल है, अर्थात् रवींद्रनाथ ने इस उपन्यास में अपनी बीस-इक्कीस वर्ष की अवस्था के कलकाता का चित्र आँकने की चेष्टा की है। कहानी का प्रारम्भ होता है सावन के कलकत्ता के वर्णन से कलकाता के जिस कीचड़ युक्त पथ से किराये की गाड़ी से रवींद्रनाथ को आना-जाना पड़ता था।

रवींद्रनाथ को 'गोरा' उपन्यास क्यों लिखना पड़ा, इसके पीछे एक रोचक प्रसंग है जिसका उल्लेख प्रभात कुमार मुखोपाध्याय ने किया है :

गोरा की कहानी लिखने की प्रेरणा बाह्य अर्थात् आर्थिक कारण से थी। रवींद्रनाथ की सबसे छोटी बेटी का विवाह होने वाला था। ज्येष्ठ मास में (1314 बंगाब्द)। धन का काफी अभाव था। 'प्रवासी' के संपादक रामानन्द चट्टोपाध्याय को किसी तरह इस बात का पता चल गया, पर सीधे-सीधे सहायता कैसे करें। उन्होंने 'प्रवासी' में एक कहानी लिखने का अनुरोध किया और तीन सौ रुपया अग्रिम भेज दिये। कवि ने 'मास्टर मोशाई' कहानी लिखकर भेज थी जो दो किस्तों में (आषाढ़ और श्रावण) 'प्रवासी' में प्रकाशित हुई किन्तु, कवि को लगा कि उसे जो रुपया मिला है, उसकी एक कहानी, लिखने से भरपायी तो हुई नहीं। इसलिए उन्होंने 'गोरा' लिखना शुरू किया। कहानी कितनी बड़ी होगी, इसकी समाप्ति कहाँ होगी, कुछ न सोचते हुए वे नियमित रूप से 32 मास तक भेजते रहे, इसमें किसी भी दिन देरी नहीं हुई। यहाँ तक कि उनके छोटे पुत्र की मृत्यु भी हो गयी पर गोरा की किस्तें प्रवासी ऑफिस में समय पर पहुँचती रहीं।

यहाँ पर एक बात ध्यातव्य है कि आज के साहित्यकार को जब आर्थिक दबावों के चलते लेखन कार्य करना पड़ता है तब वह सोचकर आश्चर्य होता है कि रवींद्रनाथ जैसे साहित्यकार को भी आर्थिक दबावों के कारण साहित्य-रचना करनी पड़ी थी। आर्थिक अभावों के चलते 'गोरा' जैसा उपन्यास लिखने के साक्ष्य तो मिलते हैं, हो सकता है उन्हें और भी रचनाएँ आर्थिक दबावों के करण करनी पड़ी हों। शान्तिनिकेतन आश्रम के विभिन्न भवनों का खर्चा चलाने के लिए उन्हें कई यात्राए और अपने नाटकों का टिकिट लगाकर मंचन करने के प्रमाण तो मिलते ही है।

'गोरा' उपन्यास उन्होंने रामानन्द बाबू के तीन सौ रुपया अग्रिम मान्देय के कारण लिखा था, इसका मनोरंजक विवरण सुनील गंगोपाध्याय ने अपने एक लेख में दिया है। पूरा प्रसंग

इस प्रकार है :

''रामानन्द चट्टोपाध्याय ने रवींद्रनाथ को तीन सौ रुपया भेजकर 'प्रवासी' पत्रिका के लिए एक कहानी लिखने का अनुरोध किया था। रवींद्रनाथ ने कोई एक कहानी तो लिखी नहीं। लम्बे अढाई वर्षों तक यह विशाल उपन्यास धारावाहिक रूप से हर माह लिखते रहे हैं। बहुतों की धारणा है, आजकल के लेखक ही शायद रुपया, पैसा के लिए लिखते हैं, रवींद्रनाथ ने अपनी अधिकांश गद्य रचनाएँ सम्पादकों की माँग एवं आर्थिक दक्षिणा के बदले में लिखी गयी हैं। किसी एक सम्पादक को, बहुत सम्भावना है मतिलाल गंगोपाध्याय को, उन्होंने एक बार चिट्ठी लिखी थी कि, उनकी एक लघु गल्प के लिए दक्षिणा अस्सी रुपये के बदले बढ़ाकर एक सौ रुपया करदेनी होगी। फिर सुनील गंगोपाध्याय ने 'गोरा' का प्रसंग उठाते हुए लिखा है : 'गोरा' उपन्यास के लिए रवींद्रनाथ को सिर्फ तीन सौ रुपया दिये थे, यह तो एक कौतूहल का विषय है। फिर सुनीलदा ने आशा के साथ लिखा था कि आशा है प्रभात कुमार मुखोपाध्याय (रवींद्र जीवनी के लेखक) के सुयोग्य उत्तराधिकारी प्रशान्तकुमार पाल (जिन्होंने नौ खंडों में रवींद्रनाथ की दूसरी जीवनी लिखी है, जिसका शीर्षक है 'रवि जीवनी') महाशय ही इस विषय पर यथासमय प्रकाशनिक्षेप करेंगे।'' (देश, साहित्य संख्या, 1398, बंगाब्द पृ. 140)।

रवींद्रनाथ के 'गोरा' उपन्यास की रचना किस परिस्थिति और किस मानसिक स्थिति में की थी इसका विस्तार से विश्लेषण रवींद्र जीवनीकार प्रभातकुमार मुखोपाध्याय ने अपने ग्रन्थ में किया है :

'गोरा' उपन्यास का लेखन रवींद्रनाथ ने तब शुरू किया था जब बंगभंग आन्दोलन अपनी अन्तिम अवस्था में था और उनका राजनैतिक मतवाद बहुत कुछ परिवर्तित हो चुका था। भावावेग के पथ पर चलकर स्वदेशीयता के जिस प्रवाह में कवि ने आत्मविसर्जन कर दिया था, आज उसके ज्वार में वह वेग नहीं रहा था, कवि ने अपने हृदय में यह समझ लिया था कि बंगाल का आन्दोलन जिस मार्ग पर चल रहा है वह भारतीयों की मंगल तीर्थ में उत्तीर्ण नहीं कर पाएगा। कवि के इसी मनोभाव की अभिव्यक्ति उनके 'व्याधि और प्रतीक' प्रबन्ध में (प्रवासी, 1314 बंगाब्द) हुई है। संगठन मूलक कार्यों में जो उत्तेजना फैल जाती है, उसको संयमित कसे किया जाये इसी दृष्टि से यह प्रबन्ध लिखा गया था। (वही पृष्ठ 234)।

प्रभात कुमार ने लिखा है 'बायकाट' आन्दोलन स्वदेशी आन्दोलन के माध्यम से राजनैतिक स्वाधीनता के आन्दोलन की दिशा में घूम गया था। किन्तु, वह धीरे-धीरे ऐसी जगह पर आकर खड़ा हो गया था जहाँ राष्ट्रीयता अर्थात् नेशनलिज्म की भावना हिन्दुत्व के ऊपर जाकर स्थित हों गयी थी। अथवा हिन्दुत्व के नये राष्ट्रीयता बोध का आश्रय पा लिया था। प्रभात कुमार ने एक और तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए लिखा है कि बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही 'राष्ट्रीयता और हिन्दुत्व' किस तरह से अविच्छेद्य रूप से एक-दूसरे के साथ जुड़ गये थे और इस प्रकार बंगाल में इसने नयी शक्ति की सृष्टि कर दी थी। फिर उन्होंने आगे लिखा है इस भावना का प्रचार स्वामी विवेकानन्द का तिरोधान जल्दी होने के कारण उनका मनोभाव आगे चलकर क्या होता यह नहीं कहा जा सकता है किन्तु, रवींद्रनाथ के मनोभाव में परिवर्तन हो गया था। प्रभात कुमार ने लिखा है : ''उन्होंने स्पष्ट रूप से समझ लिया था कि यथार्थ धर्मबोध, राष्ट्रीयता, प्रेम, निरपेक्ष प्रेम मात्र है। मनुष्य को राष्ट्रीयता की संकीर्णता त्याग कर विश्वमाननता का धर्म ग्रहण करना होगा, नहीं तो उसे मानवधर्म को जलांजलि देकर जातिप्रेम के उत्तर क्षेत्र में अपनी आहुति देनी होगी। उन्होंने लिखा है हिन्दू जातीयता की असफलता कहाँ है, राष्ट्रीयता और मानवता में विरोध क्यों दुर्लंघ्य है, इसी समस्या का विवेचन 'गोरा'

में विभिन्न प्रकार से किया गया है।''

यहाँ पर थोड़ा 'गोरा' के जन्म प्रसंग के बारे में बता देना बहुत जरूरी है फिर अपने मूल वक्तव्य हिन्दुत्व और राष्ट्रीयत्व के विवेचन को आगे बढ़ाया जाएगा।

उपन्यास की मूल कथा यह है कि इसका मुख्य पात्र 'गोरा' एक आइरिश की सन्तान है, जो विदेशी, विधर्मी, अँग्रेज शासक वर्ग की जाति का व्यक्ति है। लेकिन अपने जन्म के बारे में वह कुछ नहीं जानता है, एक हिन्दू के घर में उसका पालन-पोषण होता है। वह अत्यन्त निष्ठावान हिन्दू है, स्वदेश प्रेमी है, अँग्रेजों से द्वेष करता है, क्रिश्चियनों का विरोधी है। उसके लिए हिन्दू धर्म का सब कुछ सत्य है, सबकुछ पवित्र है, बिना किसी विचार के वह सब कुछ को ग्रहण कर लेगा। यही उसका अहंकार है। एक समय बंगाल में स्वामी विवेकानन्द की तेजयुक्त वाणी से वह मत प्रचारित हुआ था। स्वयं रवींद्रनाथ के जीवन में एक समय गोरा के इस प्रखर देशात्मबोध की अवस्था आयी थी, किन्तु उन्होंने शीघ्र ही इससे अपने को मुक्त कर लिया था, उन्होंने जीवन में इसी अवस्था को चरम सार्थकता नहीं माना था और इसीलिए उन्होंने 'गोरा' उपन्यास में 'परेश' बाबू जैसे सारी संकीर्णताओं से मुक्त, उदार हृदय जैसे चरित्र की सृष्टि की हैं पर यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि 'गोरा' को उन्होंने एक आइरिश संतान क्यों बनाया? दरअसल यहाँ स्वामी विवेकानन्द और उनकी मानस पुत्री 'भगिनी निवेदिता' का प्रसंग आ जाता है। भगिनी निवेदिता स्वामी जी के साथ कई बार महर्षि देवेन्द्रनाथ से मिलने गयी थी—ऐसा उल्लेख उसने अपने पत्रों में किया है (जोय को लिखा 21 फरवरी 1899 का पत्र)।

स्वामी विवेकानन्द और भगिनी निवेदिता के प्रसंग पर थोड़ा विचार कर लिया जाये। स्वामी विवेकानन्द की वाणी में हिन्दुत्व और राष्ट्रीयता मिली हुई थी; उन्होंने जिस हिन्दू भारत को अत्यन्त महान रूप में देखा था, वह यथार्थ से कितना रहित था, उनकी अकाल मृत्यु के कारण उन्हें इसके विवेचन का समय नहीं मिलाथा। किन्तु, उनके आदर्श हिन्दू समाज के लिए मिस मार्गरिट नोबेल को 'भगिनी निवेदिता' का सम्बोधन दिया गया था उसे हिन्दू समाज के किसी वर्ग में जरा-सा भी स्थान दे पाना सम्भव नहीं था। सनातन ब्राह्मणत्व के संस्कार से रहित संन्यासिनी निवेदिता के साथ एक पंक्ति में भोजन करना भी असम्भव था। प्रभात कुमार मुखर्जी ने यहाँ एक बहुत बड़े तथ्य का इंगित करते हुए लिखा है : ''गोरा के चरित्र में हमें स्वामी विवेकानन्द और निवेदिता के मिश्रित स्वभाव का परिचय मिलता है, आशा है कि इससे किसी को कोई आघात नहीं पहुँचेगा।'' (रवींद्र जीवनी, द्वितीय खण्ड, पृष्ठ 235)। निवेदिता का हिन्दू होना असम्भव है, यह विचार करके ही मानो रवींद्रनाथ ने एक आइरिश के पुत्र को नायक के रूप में इस उपन्यास में सृष्टि किया है। मिस नोबेल जाति से आइरिश थी। एक बार शिलाइदह में निवेदिता रवींद्रनाथ जी अतिथि बनकर गयी थी। एक दिन कवि ने मौखिक रूप से उन्हें एक कहानी सुनायी, वह कहानी 'गोरा' उपन्यास जैसी ही थी। सुचरिता गोरा को विदेशी कहकर उसका प्रत्याख्यान कर देती है, यह सुनकर निवेदिता खूब क्रुद्ध हो जाती हैं (चिट्ठीपत्र 6, पृ. 206)। रवींद्रनाथ ने गोरा के अँग्रेजी अनुवादक मि॰ विलियम विंस्टेनली पियर्सन को एक पत्र में (1922) वही लिखा है। स्वामी विवेकानन्द युवास्था में ब्राह्मधर्म के प्रति आकर्षित जरूर हुए थे किन्तु, उसमें उन्होंने प्रवेश नहीं किया थां उनकी धर्म पिपासा परमहंस रामकृष्ण के पास शान्त होती है। रवींद्रनाथ का गोरा कट्टर युक्तिवादी से निष्ठावान हिन्दू हो जाता है हरचन्द्र विद्यावागीश के प्रभाव से। हरचन्द्र के पास आने-जाने से वह उत्कट रूप से सनातनी होने लगा था। उसका कहना था, ''देश का जो कुछ है उस सबका बल और गर्व पूर्वक शिरोधार्य करने से ही देश और अपनी अपमान से रक्षा की जा सकती है। यही

कामना करना उसका धर्म है। यह युक्ति स्वामी विवेकानन्द की अनेक रचनाओं से उद्धृत की जा सकती है। (वही पृ. 236)।

ब्रह्म समाज के बारे में स्वामी विवेकानन्द का मनोभाव ज़रा भी ठीक नहीं था और रवींद्रनाथ का मन नवविधान और सामान्य ब्रह्मसमाज के बारे में अनुकूल था, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। किन्तु रवींद्रनाथ ने बंकिम की तरह ब्रह्म समाज का उपहास नहीं किया है, वे उसकी त्रुटियों के साथ उसकी अच्छाइयों को भी जानते थे। किन्तु, उनका गोरा ब्रह्म समाज की ओर आकर्षित नहीं होता है, उसका आदर्श सनातन हिन्दू धर्म था।

'गोरा' उपन्यास में रवींद्रनाथ ने ब्रह्म और हिन्दू धर्म के जिस द्वन्द्व भी समस्या उपस्थापित की है रवींद्रनाथ का उद्देश्य सिर्फ वहीं तक सीमित नही था। वास्तविक समस्या क्या है उसकी ओर प्रभात कुमार मुखोपाध्याय ने हमारा ध्यान खींचा है। 'गोरा' का रचनाकाल 1909-10 है। गोरा को लिखे हुए 120 वर्ष होने को हैं। आज भी भारत में वही द्वन्द्व, वही समस्या उपस्थित है समस्या का मूल रूप क्या है उसे प्रभातकुमार मुखोपाध्याय के शब्दों में देखिए :

''हिन्दू भारत अथवा अखण्ड भारत की समस्या यह नहीं है कि कौन कितना हिन्दू है अथवा कौन कितना मुसलमान है। असली समस्या यह है कि इस बाधा को दूर किस तरह से किया जाए व्यक्ति अपना मनुष्य के रूप में परिचय देगा और मनुष्य के धर्म का निष्ठापूर्वक पालन करेगा। इसी समय लिखे गये अपने 'तपोवन' निबन्ध में कवि ने लिखा था (प्रवासी 1316, पौष)[1] : ''भारत के अन्तःकरण में जो उदार तपस्या गंभीर रूप से संचित हुई है वह आज प्रतीक्षा करती है कि हिन्दू मुसलमान, बौद्ध और अँग्रेज सब मिलकर उस तपस्या के मध्य एक से जाएँ, दास भाव से नहीं, जड़ भाव से नहीं, वरन् सात्विक भाव से, साधक भाव से, जब तक यही नहीं होगा हमें दुःख और अपमान सहना पड़ेगा, सभी दिशाओं में हमारे प्रयास विफल होंगे। (शांति निकेतन, खण्ड द्र. पृ. 206)।''

इसीलिए लेखक ने 'गोरा' में परेश बाबू को सभी सम्प्रदायों से बाहर लाकर—वे किसी दीवाल खिचे हुए धर्म के घेरें में नहीं है—जिस क्षेत्र में उन्हें खड़ा कर दिया है वह वास्तव में श्री क्षेत्र है और उसी खुले, विशुद्ध श्री क्षेत्र में 'गोरा' के साथ सुचरिता का मिलन सम्भव हुआ है। धर्म सम्प्रदाय की संकीर्णता में मनुष्य की मुक्ति नहीं है, मनुष्य का मिलन सम्भव नहीं है—यही बात रवींद्रनाथ की कई रचनाओं में अभिव्यक्त हुई थी—'गोरा' में भी यही बात बड़ी सुन्दरता से व्यक्त हुई है।

यहाँ तक 'गोरा' उपन्यास के मूल मंतव्य की भूमिका भर बाँधी गयी है। लेकिन यह मूल मंतव्य किस कथा-विन्यास, किस शिल्प और आँगिकों के माध्यम से व्यक्त हुआ है उस पर थोड़े विस्तार से विचार कर लेना आवश्यक है। 'गोरा' विचार प्रधान उपन्यास है इसमें वाद-विवाद के माध्यम से ही संवाद पर पहुँचा गया है, किन्तु ये वाद-विवाद आज के विमर्शों से भिन्नतर है इसमें जो भी विचार-बहुतला परिलक्षित होती है,वह कोरा वाद-विवाद न होकर जीवन्त पात्रों और घटनावाचक के माध्यम से विश्वास और श्रद्धा के अंग के रूप में व्यक्त हुई है इसलिए इस उपन्यास का घटनाचक्र नीरस होने से बच गया है। यहाँ एक बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है जिससे 'गोरा' उपन्यास की सरलता और उसके प्रति उत्सुकता की अर्न्तधारा का अनुमान लगाया जा सकता है। उपन्यासकार प्रारम्भ में ही इस बात की चर्चा कर देता है कि गोरा एक आइरिश माता-पिता की सन्तान है और कृष्णदयाल तथा आनन्दमयी का वह धर्मजात पुत्र न होकर पोषित पुत्र है। इसकी जानकारी पाठकों को प्रारम्भ में ही हो जाती है किन्तु लेखक ने बड़े कौशल से इस जानकारी को गोरा से छिपाकर रखा है। अब

पाठकों में यह उत्सुकता बराबर बनी रहती है कि इसकी जानकारी गोरा को कब लेती है और जब होगी तब कौन-सा विस्फोट हो गया और पूरे घटनाचक्र में कौन सा बदलाव आएगा। यह कौतूहल और इसी तरह को बीच-बीच में व्यवधान, टकराव और द्वन्द्वों की सृष्टि के द्वारा 'गोरा' उपन्यास का घटनाचक्र पाठकों को अटकाए रखता है और घटनाचक्र तीव्रता से आगे बढ़ता जाता है। उपन्यासकार रवींद्रनाथ का गठन-कौशल और कथा कहने की भंगिमा यहाँ देखने योग्य है।

अन्य उपन्यासों की तुलना में गोरा दो दृष्टियों से भिन्न उपन्यास है, एक तो इसका परिक्षेत्र बहुत व्यापक है, दूसरे अभी तक रवींद्रनाथ के उपन्यासों की विषय वस्तु परिवार और समाज की सीमा में स्त्री-पुरुष के आकर्षण-विकर्षण में बँधी हुई थी, 'गोरा' में उन्होंने दूसरी समस्या उठायी है और वह है धर्मबोध, देशबोध और मानव-बोध, यों तो इसमें भी स्त्री-पुरुष में आकर्षण विकर्षण है किन्तु वह धर्म बोध पर आधरित हैं। प्रेम धर्म या सम्प्रदाय बोध की संकीर्णता से मुक्त होकर सहज प्रेम पर कैसे आधारित हो सकता है। इसी का प्रतिपादन गोरा में किया गया है किन्तु उसका आधार विश्व मानव बोध है। 'गोरा' उपन्यास के प्रसंग में सुकुमार सेन ने लिखा है : '' 'गोरा' उपन्यास का परिसर और भी विस्तृत है। आधुनिक भारतवर्ष की सबसे मुश्किल समस्या हिन्दू समाज और भारतीय सभ्यता की जीवन-मरण की समस्या है, यही समस्या इस उपन्यास के पात्र और पात्रियों के अन्तर्द्वन्द्व से जुड़ी हुई है। इससे पहले के उपन्यास 'नौका डूबी' में सामाजिक-संस्कार के साथ हृदयवृत्ति के संघर्ष का क्या, परिणाम हो सकता है उसी को दर्शाया गया है। लेकिन गोरा की समस्या एकदम भिन्न है। इसमें व्यक्ति के साथ समाज का, समाज के साथ धर्म का एवं धर्म के साथ मानवीय सत्य के विरोध और सामंजस्य का उद्घाटन किया गया है।'' सुकुमार सेन में 'गोरा' उपन्यास में रवींद्रनाथ के भारत की इस समस्या की सुलझाने के लिए क्या किया है उसका विवेचन करते हुए लिखा है : भारतीय संस्कृति की उदार निरपेक्षता, निःसंग ब्राह्मण्यमहिमा, सार्वभौम करुणा, सबसे ऊपर शान्त, सत्यनिष्ठा इन सबके होते हुए भी सामाजिक व्यवहार में विषमता, आचार-विचार में बंधन, जाति मंद का जंजाल, एवं जनसाधारण की निःसहाय दरिद्रता और असीम मूढ़ता, जो देश को तिल-तिल कर महाविनाश के पथ पर ले जा रही है, उसका अनुभव कर रवींद्रनाथ ने इस उपन्यास में उसके समाधान का जो संकेत किया है वह सचमुच में एक तरह से भविष्यवाणी की तरह है, वर्तमान स्थिति में इसे इसी रूप में ग्रहण करना चाहिए। (बांग्ला साहित्य का इतिहास, चतुर्थ खण्ड, पृष्ठ 329)। उन्होंने आगे कहा है हिन्दू समाज की अनुदारता एवं आचार को धर्म के स्थान पर स्थापित करने की मूढ़ता जिसने रात दिन समाज के घेरे को संकीर्ण से सकीर्णतर बनाकर जनजीवन को जो उत्पीड़ित किया है, उसे रवींद्रनाथ के पूर्व इस उत्कटता के साथ किसी ने भी अनुभूत नहीं किया है।

हिन्दू समाज में प्रवेश करने का कोई रास्ता नहीं है, अन्ततः सदर दरबाया तो है ही नहीं, खिड़की का दरवाजा हो भी सकता है। यह समाज सभी मनुष्यों का समाज नहीं है—भाग्यवश जो हिन्दू होकर जन्म लेते है, यह समाज सिर्फ उन्हीं लोगों का है। गोरा में परेश बाबू का कथन। (सुकुमार सेन द्वारा अपने इतिहास खण्ड 4 में पृष्ठ 329 पर उद्धृत)।

धर्म मनुष्य की व्यक्तिगत चीज है और समाज समष्टिगत है। जो समाज जीवित है और जीवित रहना चाहता है उसे प्रवेश का अपना कार खुला रखना पड़ेगा। हर देश के आकाश, जल, हवा, प्रकाश, वृक्ष, वनस्पति, जीव-जन्तु, नर-नारी आदि रूप, रंग, रस, स्वभाव और आचरण में कुछ-न-कुछ भिन्नता जरूर रहती है। भारतवर्ष के व्यक्ति के दृष्टिकोण की विशेषता है

आत्मसंयम, त्याग, अहिंसा और मृत्यु के उस पार भी जीवन को देखना। हिन्दू समाज में लगे बेडे को दूर कर जब तक विभिन्न धर्मों के साथ यथासम्भव समझौता नहीं किया जाएगा तब तक हमारे जीवित कम रहने का कोई उपाय नहीं है। भारत को जो सनातन रूप से अनुभव करेगा वही सच्चा भारतवासी है एवं जो भारतवर्ष में वास करेगा वही वृहत्तर हिन्दू समाज में आ जाएगा। 'गोरा' उपन्यास का यही उद्देश्य है।

सुकुमार सेन ने गोरा में भावी महात्मा गाँधी के आने की छवि देखी है। उन्होंने लिखा है : ''दुख-दरिद्र-उत्पीड़ित के बीच में रहकर उनके दुःख और उत्पीड़न को स्वीकार कर गोरा उसके प्रतिरोध में सिर्फ आत्मिक बल के साथ अकेला खड़ा हुआ था। उसने अदालत में अपने पक्ष का समर्थन भी किया था उसका कहना था। इस राज्य में पूरी तरह असहाय व्यक्ति की जो गति होती है, वही गति मेरी है।'' यह बात याद रखनी चाहिए कि भारतवर्ष में असहयोग आन्दोलन शुरू होने के बारह वर्ष पहले 'गोरा' लिखा गया था।

यहाँ पर ब्रह्म समाज के बारे में दो-चार बातें कहना बहुत आवश्यक है। ब्रह्म समाज के पुराने अनुभवी श्रद्धेय नेताओं के तिरोधान के साथ-साथ ही उस समाज में जो परिवर्तन आ गया था, उसकी अनुदारता और जातिविमुखता से रवींद्रनाथ खुश नहीं थे। रवींद्रनाथ जन्म से ही अमूर्तिपूजक धार्मिक अनुष्ठान के बीच बड़े हुए थे, इसलिए मूर्तिपूजक हिन्दू समाज के प्रति उनके आन्तरिक अनुराग होने की कोई बात ही नहीं थी। पिता देवेन्द्रनाथ ने प्राचीन जिन सब सामाजिक आचार-अनुष्ठानों को नहीं त्यागा था, उनका त्याग रवींद्रनाथ ने कर दिया था। वे सामान्य ब्रह्मसमाज के प्रगतिशील थे। किन्तु जो सत्य है उसका परित्याग उन्होंने कभी नहीं किया। इसीलिए उन्होंने गोरा में घुटे हुए ब्रह्म पान बाबू की तरह रामायण, महाभारत और भगवद्गीता को हिन्दुओं की चीजें मानकर उनकी उपेक्षा नहीं की थी। इसीलिए उन्होंने गोरा के माध्यम से कहलवाया है, 'मैं भगवान की भक्ति जरूर करता हूँ—तुम जब अपनी मौसी के कमरे में भगवान की मूर्ति देखती हो, तब तुम केवल पत्थर को ही देखती हो, मैं तुम्हारी मौसी के भक्तिपूर्ण, करुणा हृदय को ही देखता हूँ।'' तपोवन निबन्ध में यही बात रवींद्रनाथ ने और एक दृष्टिकोण से कही है : ''नदी के जल में स्नान करने से अपनी या तीन करोड़ पूर्वपुरुषों की परलौकिक सद्गति की सम्भावना है इस विश्वास को मैं जड़ सहित मानने को तैयार नहीं हूँ एवं विश्वास को बड़ी वस्तु मानकर उस पर श्रद्धा नहीं करता हूँ। किन्तु अवगाहन स्नान के सम नदी के जल को यथार्थ भक्ति के द्वारा सर्वांग एवं समस्त मन के द्वारा ग्रहण कर सकता है, उसे मैं भक्ति के पात्र के रूप में मानता हूँ।'' एक हिसाब से 'गोरा' को नये ब्रह्म समाज की समालोचना कहा जा सकता है। जिस समय 'गोरा' प्रकाशित हुआ उस समय भी नये ब्रह्मसमाज के रवींद्रनाथ सदस्य थे। इसके कारण 'गोरा' उपन्यास पढ़कर ब्रह्म समाजियों में कुछ विक्षोभ पैदा हुआ था किन्तु उसकी अभिव्यक्ति बाहर नहीं हुई थी। रवींद्रनाथ द्वारा की गयी समालोचना गलत नहीं है, यह जल्दी प्रमाणित हो गयी। ब्रह्मसमाजी बृहद हिन्दू समाज से बाहर नहीं है, उन लोगों में यही मनोभाव प्रकट होने लगा। एवं विनय ललिता जैसा ब्राह्म-हिन्दू विवाह भी बाद में अप्रत्याशित घटना नहीं माना जाने लगा।

बृहत् सामाजिक समस्या का विश्लेषण और समाधान गोरा की सम्पूर्ण कहानी नहीं है। सुकुमार सेन के मत से 'गोरा' आधुनिक भारत का महाभारत मात्र भी नहीं है। उपन्यास जिसे कहते है उस दृष्टि से भी 'गोरा' एक शिखरोपण रचना है। उन्होंने आगे कहा है, ''आज तक बांग्ला उपन्यास में एक मात्र रस था मधुर अर्थात् प्रेम। वात्सल्य रस का स्पर्श उपन्यास में सामान्यरूप से करुण रस के उपादान के रूप में ही चलता है। 'आँख की किरकिरी' में वात्सल्य

रस है ही नहीं, यह कहा जा सकता है और 'नौका डूबि' में थोड़ा होते हुए भी वह गौण है। 'गोरा' में प्रेमरस के साथ वात्सल्य, शान्त और सख्य रस समान रूप से व्यक्त हुआ है।

'गोरा' आइरिश सन्तान है, इसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है। उसका पूर्ण विवरण इस प्रकार है—

गोरा एक आइरिश सैनिक का बेटा है। सिपाही विद्रोह के समय एक सैनिक की पत्नी कृष्णदयाल के घर में आश्रय लेती है और एक पुत्र को जन्म देकर मर जाती है। गोरा को पाकर उसके दोनों स्तनों में दूध आ जाता है इससे निःसंतान आनन्दमयी का मातृ हृदय वात्सल्य रस से भर जाता है। इसलिए अपनी पत्नी का मुख देखकर कृष्णदयाल गोरा की जन्म कथा किसी को बता नहीं पाते हैं। गोरा जब बड़ा हो गया उस समय भी वे इस बात को दो कारणों से ज़ाहिर नहीं कर सके—एक तो आनन्दमयी को दुःख होगा, दूसरे, एक यूरोपीय बच्चे को छिपाने के कारण गवर्नमेंट उन्हें सजा दे सकती है। गोरा के जन्म रहस्य का रवींद्रनाथ ने कहानी के बीच में बड़ी निपुणता से छिपाये रख कर एकदम कहानी के अन्त में पहुँचकर उद्‌घाटित किया है। फिर भी बीच-बीच में कई बार यह संकेत किया है कि गोरा आनन्दमयी का गर्भजात पुत्र नहीं है, एवं उसी के कारण उन्हें समाज में प्रचलित छोटे-मोटे अनेक आचार-विचारों को छोड़ना पड़ा है। कट्टर ब्राह्मणा पण्डित की पौत्री आनन्दमयी आचार-विचार क्यों नहीं मानती है, यह आरोप लगाने पर उन्होंने गोरा से कहा है :

''तुझे गोद में लेकर ही मैंने सारे आचार-विचारों का नदी में बहा दिया था, क्या यह बात तू जानता है?'' छोटे बच्चे को गोद में लेने के बाद ही यह जाना जा सकता है कि दुनिया में कोई जाति लेकर पैदा नहीं होता है। यह बात मैं जिस दिन समझ सकी उस दिन से यह बात मैं निश्चित रूप से जिस दिन समझ सकी उस दिन से यह बात मैं निश्चित रूप से जान सकी हूँ कि यदि मैं किसी को क्रिश्चियन होने के कारण, छोटी जाति का होने के कारण उससे घृणा करूँ तो ईश्वर भी मेरे हृदय से निकल जाएगा।

आनन्दमयी की बात सुनकर विनय के मन में खटका जाग गया था। गोरा यूरोपीय संतान है, क्रिश्चियन है, सुतराम हिन्दू समाज-आचार के आचर-विचार एवं हिन्दूधर्म के पूजा-अनुष्ठान में उसका कोई अधिकार नहीं है, यह विचार यदि कृष्णदयाल को कुण्ठित न करता और आनन्दमयी को बीच-बीच में पीड़ा न दता तो फिर इस उपन्यास की कहानी का सूत्रपात ही न होता। दृढ़मूल संस्कारों के साथ भावना का संघर्ष ही तो गोरा उपन्यास की कहानी का मूल बीज है।

बांग्ला साहित्य के इतिहास का सुकुमार सेन ने गोरा को आइरिश संतान क्यों बनाया गया, और ऐसा बनाया जाना क्या 'गोरा' उपन्यास के निहितार्थ के लिए अपरिहार्य था यह प्रश्न उठाते हुए कि कहा है ''गोरा को रवींद्रनाथ ने जिस तरह से गढ़ा है—भारतवर्ष के प्रति उसका जो मनोभाव एवं भारतवर्ष के लिए उसकी सेवा का जो प्रयोजन था—उसकी वजह से गोरा को ऐसा पद लेना पड़ा है, जहाँ पर वह भारतवर्ष में रहकर भी उससे अलग रह सके। भारतवर्ष के ऊपर गोरा का जाति से कोई स्वतः सिद्ध अधिकार नहीं है, उसका अधिकार अनुराग का है, भक्ति का है, सत्य उपलब्धि का है। इसीलिए गोरा को खड़ा होना पड़ा है हिन्दू समाज की संकीर्णता, सारी क्षुद्रता, सारे भेदों, सभी जातियों के बाहर। देह और मन का तेज़ अगर प्रसर न हो तो ऐसी कठोर साधना में आगे नहीं बढ़ा जा सकता है, इसीलिए गोरा को विधुमर्म युक्त वाणी और दिव्य वज्रपाणि की तरह गढ़ना पड़ा है। अगर ऐसा न होता तो अनेक शताब्दियों का कूड़ा-करकट भस्म कैसे होता (बांग्ला साहितय का इतिहास, चौथा खण्ड, पृष्ठ 332)।

गोरा के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता है उसका असामान्य बल, देह, मन, वचन, सभी

उसके शक्ति और तेज से युक्त हैं। उसका दैहिक सौन्दर्य और गठन ऐसा है कि किसी की नज़र उससे बचकर नहीं निकल सकती। देह की असाधारणता, चरित्र की हृदयता, बुद्धि की तीक्ष्णता, विश्वास की प्रबलता में गोरा के व्यक्तित्व की दुर्दमनीय अभिव्यक्ति हुई है।

उसके देश प्रेम में जुनून, विद्रोह और उग्रता के दो कारण हैं—एक शिक्षित समाज की देश के प्रति उपेक्षा, दूसरे ईसाई मिशनरियों का समाज सुधार के नाम पर ईसाई धर्मान्तरण का प्रयास। इसीलिए उसका कहना है समाज सुधार का अधिकार उसी को है जो देश से प्रेम करता हो। बिना प्रेम के सुधार की बात दिखावा मात्र है। इसीलिए वह परेश बाबू के घर जाते समय, शिक्षित समाज के लोगों की पुस्तकों से उपार्जित और नकल किये गये सारे संस्कारों की उपेक्षा कर गोरा माथे पर 'गंगोटी का तिलक लगाये, मोटी धोती पहने, उसके ऊपर तनीदार मिर्जई और मोटी चादर ओढ़े पैरों में नोंकदार कटक के जूता पहनकर' मानो वर्तमान युग के विरुद्ध एक मूर्त्तिमान विद्रोह की तरह आकर उपस्थित हो गया।

गोरा के व्यक्तित्व में एक निःसंगता का भाव था, जिसके कारण बहुत कम लोग ही उसके साथ घनिष्ठता स्थापित करने में उत्साहित हुआ करते थे। सम्भवतः इसी वजह से यौवन की स्वाभाविक प्रेरणा होते हुए भी उसने अब तक नारी प्रेम के आकर्षण का अनुभव नहीं किया था। आनन्दमयी का वात्सल्य और विनय का सौहार्द्र ये दोनों ही गोरा की हृदयवृत्ति के अवलम्बन थे। गोरा के वैराग्य भाव के कारण समय-समय पर विनय भी उससे दूर पड़ जाता था, और आनन्दमयी भी उससे थोड़ा भयभीत रहा करती थीं। परेश बाबू के यहाँ सुचरिता को देखकर, उसके साथ तर्क-वितर्क कर एवं उसकी थोड़ी श्रद्धा पाकर भी गोरा सुचरिता के प्रति आकर्षित नहीं होता है। सिर्फ परेशू बाबू के प्रति श्रद्धा ही उसे कुछ कोमल बना देती थी। नारी का कल्याणकारी हाथ पुरुष के जीवन को कैसी अपूर्व सम्पदा से भर सकता है, यह बात जब विनय ने थियी रात्रि में दत पर बैठकर उससे कही थी तभी गोरा के हृदय में एक अजानी क्षुधा की लहर जाग गयी थी। मानव हृदय के प्रेम की यह उद्दीपना एक सत्य वस्तु है, यह गोरा के सामने इस तरह से कभी व्यक्त नहीं हुई थी। रवींद्रनाथ ने गोरा उपन्यास में लिखा है :

''इन सब मामलों में वह अब तक कवि का जँजाल कहकर इसकी उपेक्षा करता आया है आज उसे अपने इतने निकट देखा कि इसे और अस्वीकार नहीं कर सका। उसके यौवन की एक अगोचर अंश का पर्दा क्षणभर के लिए हवा से उड़ गया एवं इतने दिनों के उस रुद्ध कक्ष में इस शरत् निश्शीथ की ज्योति ने प्रवेश कर एक माया को विस्तार कर दिया।''

किन्तु यह माया कितने देर तक बनी रह सकती है। देश की महामाया उसे महाशक्ति के खिंचाव से दिनरात खींचती रहती है। इसीलिए विनय के प्रत्यक्ष नारी प्रेम ने गोरा के अप्रत्यक्ष स्वदेशप्रेम को ही प्रत्यक्ष करने के लिए उत्प्रेरित किया गया है। गोरा ने कहा—तुम अब तक पुस्तकों में पढ़े हुए प्रेम के परिचय से संतुष्ट थे, मैं भी पुस्तकों में पढ़े हुए स्वदेश-प्रेम को ही जानता हूँ—प्रेम आज तुम्हारे सामने जब प्रत्यक्ष हुआ तब तुम यह समझ सके हो कि पुस्तक में पढ़ी हुई वस्त्र की अपेक्षा यह कितना सत्य है। स्वदेश प्रेम जिस दिन मेरे सामने इस तरह से सर्वांगीण रूप से प्रत्यक्ष गोचर होगा, उस दिन मैं भी इससे बच नहीं सकूँगा—तुम्हारे जीवन की इस अभिज्ञता ने आज मेरे जीवन को आघात पहुँचाया है—तुमने जो पाया है वह मैं किसी दिन समझ पाऊँगा या नहीं, यह मुझे पता नहीं है, किन्तु, मैं जो पाना चाहता हूँ, उसका आस्वाद मैं मानो तुम्हारे माध्यम से ही अनुभव कर रहा हूँ।

कहते-कहते गोरा के भावमन चित्त में मानो बिजली सी खेल गयी। उसने उस ब्रह्म मुहूर्त

में मानो ब्रह्मानन्द का अनुभव कर लिया।

क्षण भर के लिए उसे ऐसा लगा जैसे उसका ब्रह्मरन्ध्र भेद कर एक ज्योतिर्मय रेखा सूक्ष्म सूत्र की तरह निकलकर एक ज्योतिर्मय शतदल के रूप में समस्त आकाश में व्याप्त होकर विकसित हो गयी हो उसकी सारी चेतना, सारी शक्ति मानो इससे एक बार ही परम आनन्द में निःशेषित हो गयी हो।''

गोरा के मत से दिन और रात्रि काल के दो भागों की तरह हैं समाज के भी दो भाग हैं पुरुष और स्त्री। रवींद्रनाथ ने लिखा है, ''समाज की स्वाभाविक अवस्था में स्त्रियाँ रात्रि की तरह प्रच्छन्न ही रहती हैं उनका सारा काम निगूढ़ एवं एकान्त में होता है, अपनी कर्म प्रवणता के हिसाब से हम लोग रस को छोड़ देते हैं। किन्तु उसे छोड़ देने के कारण, उसका जो गम्भीर धर्म है, उसका कुछ भी दृढ़ता नहीं है। वह गोपन विश्राम के अन्तराल में हमारी क्षति पूर्ति करती है, हमारी सहायता करती हैं।''

उपन्यास के काफी अंश तक लेखक ने गोरा का जो चित्र खींचा है, उससे ऐसा लगता है कि यह अपने लक्ष्य के प्रति समर्पित है, इसमें स्त्री के लिए कोई जगह नहीं है। वह सभी से मिलता-जुलता है, तर्क-वितर्क करता है, पर कहीं भी आसक्त नहीं होता है। उसके हृदय की कोमलता सिर्फ आनन्दमयी या अपने बाल्य बन्धु विनय के सामने व्यक्त होती है। इसलिए उसके व्यक्तित्व में एकांगीपने की त्रुटि बनी रहती है। यह एकांगीपना गोरा के आदर्श की एक त्रुटि बनी रहती है। सुचरिता से प्रेम कर और उसकी श्रद्धा और अनुराग पाकर उस त्रुटि में सुधार हो गया था।

यहाँ पर थोड़ा सुचरिता के इतिहास को बता देना जरूरी है। परेश बाबू की पत्नी वरदा सुन्दरी कट्टर ब्राह्मवादी थी। उनके तीन बेटियाँ थी—ललिता, लावण्य और लीला। सुचरिता परेश बाबू के मित्र की पुत्री थी। उसका भाई सतीश था। सुचरिता और सतीश दोनों परेश बाबू के परिवार में रह रहे थे। सुचरिता के माता-पिता दोनों मर चुके थे। मरते समय वे कुछ रुपया परेश बाबू के पास छोड़ गये थे। परेश बाबू ने उस रुपये से सुचरिता और सतीश के लिए अलग-अलग दो मकान खरीदकर किराये पर उठा दिये थे। किराये का रुपया वे सुचरिता और सतीश के लिए इकट्ठा करते रहते थे। परेश बाबू का परिवार यद्यपि ब्राह्म था पर परेश बाबू ब्राह्मवादियों की कट्टरता से मुक्त शुद्ध मानवधर्मी थे। इधर ब्राह्मवादी हारान बाबू का उस परिवार में आना जाना था। वे परेश बाबू की पुत्री ललिता से विवाह करना चाहते थे किन्तु ललिता विनय गोरा के मित्र के प्रति आकर्षित थी और इस विवाह के लिए तैयार नहीं थी। उसने हारान बाबू से विवाह के लिए साफ मना कर दिया था। परेश बाबू ने इसमें उसकी सहायता की थी।

इधर सुचरिता की एक मौसी भी हरिमोहिनी जो विधवा हो गयी थीं। उनके देवरों ने उनकी जमीन-जायदाद और घर पर कब्जा कर उन्हें घर से तीर्थाटन पर जाने को मजबूर कर दिया था। वे तमाम दुःख सह कर भटकती हुई अन्त में किसी तरह सुचरिता का पता लगाकर वहीं आ जाती हैं। परेश बाबू ने उनके रहने की वहीं व्यवस्था कर दी और वे अपने ठाकुर जी के साथ वहीं दिन-यापन करने लगी। सुचरिता ब्राह्मसमाज के प्रभाव से कटकर हरिमोहिनी के पूजा अनुष्ठान में सहयोग करने लगी। वहाँ पर परेश बाबू के पास कभी-कभी गोरा का भी आना-जाना था। वरभ सुन्दरी को यह मंजूर नहीं था कि सुचरिता के आराम से रहने की व्यवस्था पहले से ही निश्चित कर रखी थी। सुचरिता जब उसी परिवार में बने रहने की समस्या लेकर उनके पास समाधान के लिए पहुँची तब उन्होंने सतीश और उसके नाम पड़ोस में एक

मकान खरीद रखा है, यह रहस्य खोला, जो अब तक सुचरिता नहीं जानती थी। सुचरिता हरि मोहिनी और सतीश तीनों सुचरिता वाले मकान में चले गये और वहाँ पर गोरा भी सुचरिता के पास आने-जाने लगा।

हरिमोहिनी जब सुविधा से रहने लगीं, तब उनकी स्वार्थ वृत्ति जाग उठती है और उनका मन पुनः उसी ससुराल की और झुक जाता है जिसने उनकी सारी सम्पति छीनकर उन्हें दर-दर का भिखारी बना दिया था उनकी ससुराल में एक देवर था कैलाश जिसकी पत्नी की मृत्यु हो चुकी थी, उसी पैंतालीस वर्षीय देवर के साथ सुचरिता का विवाह करा दिया जाए यह उन्होंने ठान लिया था। इसके लिए पहले उन्होंने तुम्हारा सायनी लड़की के पास आना-आना ठीक नहीं है यह कहकर गोरा का अपने यहाँ आना-जाना बन्द कर दिया था। दूसरे उन्होंने सुचरिता से भी कैलाश के गुणों का बखान कर उसके मौन को उसकी सहमति मानकर महेन्द्र को भी अपने यहाँ बुला लिया था किन्तु, सुचरिता वहाँ थी नहीं और वह लड़की देखने के लिए उतावला था। यह विवाह कराकर हरिमोहिनी सुचरिता की सम्पति पर अधिकार करना चाहती थीं। सुचरिता के परेश बाबू के घर से आने पर कैलाश से बात करने को कहा पर सुचरिता किसी भी तरह राजी नहीं हुई। इधर गोरा से लगातार न आने और उसके प्रति श्रद्धा होते हुए भी सुचरिता को यह तो नहीं था कि गोरा उससे विवाह करेगा या नहीं। जब हरिमोहिनी ने सुचरिता पर विवाह करने का बहुत दबाव डाला तब तक दिन उसने कहा कि मैं बाबा के यहाँ हो आऊँ। उसने सोचा मैं परेश बाबू के यहाँ ही रह जाऊँगी और इस विवाह की बात टल जाएगी। जब सुचरिता परेश बाबू के यहाँ पहुँची तब वे अपना सामान बक्से में रखकर एकान्तवास और तपस्या के लिए शिमला जाने की तैयारी कर रहे थे। सुचरिता ने जब यह देखा तब उसने कहा मैं भी आपके साथ चलूँगी बाबा आपकी देख रेख कौन करेगा। इसी समय गोरा का अप्रत्याशित आगमन होता है जिससे पूरा घटना चक्र बदल जाता है।

हुआ यह कि एक दिन तमाम मंथन, विचार-विमर्श और मानसिक संघर्ष के बाद कृष्णदयाल और आनन्दमयी ने यह तय किया के गोरा को जब अँधेरे में नहीं रखना चाहिए और उसके जन्म का रहस्य बता देना चाहिए। जब गोरा को अपने जन्म की वास्तविकता का पता चला तब क्या हुआ उसे रवींद्रनाथ के शब्दों में ही सुनिये।

इस प्रसंग को थोड़ा तफसील से कहना पड़ेगा तब रवींद्रनाथ के मंतव्य पर आया जाएगा। गोरा जब ग्राम्य दर्शन के लिए गया था तब उसने गरीब लोगों पर पुलिस द्वारा किये गये अत्याचारों की जो कहानी सुनी और स्वयं देखी तब वह इसकी शिकायत लेकर अँगेज मजिस्ट्रेट से मिला, अंग्रेज मजिस्ट्रेट ने कोई बात न सुनकर उसे एक मास की सजा सुना दी। जेल से लौटने के बाद वहाँ पर आचार-नियम भंग हो पाने और जेल का खाना खाने के पाप से बचने के लिए उसने प्रायश्चित की सोची। उसके दल के लोगों ने पंडितों आदि को बुलाकर बड़े समारोह के साथ उसके प्रायश्चित की व्यवसथा की। जब यह समाचार कृष्णदयाल को मिला तब उन्होंने गोरा को बुलाकर कहा : ''मैंने तुम्हें पहले भी एक दिन कहा था कि तुम प्रायश्चित्त नहीं कर सकते।''

गोरा ने कहा, 'कहा तो था। लेकिन कोई कारण नहीं बताया? कृष्णदयाल बोले, 'कारण बताने की मैं कोई जरूरत नहीं समझता। हम तुम्हारे बड़े हैं, हमारी बात तुम्हें मान्य होनी चाहिए।' गोरा सहज में मानने वाला नहीं था, इसलिए उसने कहा—''मैंने अपनी शुचिता के लिए यह आयोजन किया है।'' तब कृष्ण दयाल ने कहा—तुम समझते हो कि तुमने हिन्दू धर्म में प्रवेश पा लिया है, यह तुम्हारी सरासर भूल है।'' गोरा को इस बात से चोट लगी और वह यह सोचने

लगा कि कोई बात ऐसी है जो मुझे बतायी नहीं जा रही है। इधर उसके समारोह की धूम-धाम मची हुई थी और उसकी धनी आती जा रही थी तभी गोरा को सन्देश मिला कि कृष्णदयाल की तबीयत खराब हो गयी है। गोरा समारोह स्थल से तुरंत घर आया उसने देखा कि कृष्णदयाल बिस्तर पर बैठे हुए है और आनन्दमयी उनके पैरों के पास बैठी पाँव सहला रही है। माँ की ओर उन्मुख होकर उसने पूछा—अब कैसे है? आनन्दमयी ने कहा अब तो कुछ ठीक है।

कमरे में शशिमुखी और नौकर भी था। कृष्णदयाल ने हाथ हिलाकर उन्हें बाहर भेज दिया। कृष्णदयाल ने कहा—''मेरा समय आ गया है। अब तक तुमसे जो छिपा रखा था, वह आज तुम्हें बताए बिना मुझे मुक्ति न मिलेगी? मेरी मृत्यु के बाद तुम मेरा श्राद्ध कैसे करोगे?''

मानो ऐसी गड़बड़ की सम्भावना से ही कृष्णदयाल सिहर उठे। असल बात क्या है यह जानने के लिए गोरा अधीर हो उठा। आनन्दमयी की ओर देखकर वह बोला—'माँ तुम बताओ, बात क्या है, क्या मुझे श्राद्ध करने का अधिकार नहीं है?''

आनन्दमयी अब तक सिर झुकाते हुए स्तब्ध बैठी थीं। गोरा का प्रश्न सुनकर उन्होंने सिर उठाकर गोरा के चेहरे पर नजर टिकाये हुए कहा—''नहीं बेटा।''

गोरा ने चकित होकर कहा—''मैं उनका पुत्र नहीं?''

आनन्दमयी ने कहा, 'नहीं।'

ज्वालामुखी सी आग के उच्छास की तरह गोरा के मुँह से निकला ''माँ तुम मेरी माँ नहीं हो?''

आनन्दमयी की छाती फटने लगी। बिना आँसुओं के रोते हुए स्वर में उन्होंने कहा, 'बेटा, गोरा, तू तो मुझ पुत्र-हीन का पुत्र है, तू तो अपने पेट के लड़के से भी अधिक है, बेटा।''

तब गोरा ने कृष्णदयाल के चेहरे की ओर देखते हुए पूछा—''तब मुझे तुम लोगों ने कहाँ पाया?''

इस पर कृष्णदयाल ने पूरी कहानी सुना दी जिसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है।

रवींद्रनाथ ने लिखा है : ''पल भर में ही गोरा का सारा जीवन उसके लिए एक बड़ा अद्‌भुत सपना-सा हो गया। शैशव से इतने बरसों तक उसका जीवन जिस भित्ति पर खड़ा रहा था, वह एकाएक विलीन हो गया। वह क्या है, कहाँ है, मानो वह कुछ भी नहीं समझ सका। मानो उसके पीछे अतीत नाम की कोई चीज ही नहीं रही, और उसके सामने भी इतने दिनों से जो स्पष्ट भविष्य उसका एक मात्र लक्ष्य रहा था, वह भी एकाएक गायब हो गया। मानो वह इसी एक क्षण की कमल की पँखुड़ी में ओस की बूँद-सा काँप रहा हो। उसकी न माँ है, न बाप है, न देश है, न जाति है, न नाम, न गोत्र, न देवता—वह मानो एक सम्पूर्ण नकार है। वह किसे पकड़े, क्या करे, फिर कहाँ से आरम्भ करे किधर अपना लक्ष्य स्थिर करे, फिर दिन-रात क्रम से अपने काम के उपकरण कहाँ से कैसे जुटाये? इस दिशाहीन अद्‌भुत शून्य के बीच में गोरा हतवाक् बैठा रह गया। उसका चेहरा देखकर और किसी को भी कुछ कहने का साहस नहीं हुआ। (गोरा, पृष्ठ 448-450, अनुवाद—सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय', साहित्य अकादमी)।

इतने में बंगाली डॉक्टर के साथ अंग्रेज डॉक्टर भी आ गया। उसने परीक्षण करके कहा कि डरने की कोई बात नहीं है, नाड़ी भी ठीक चल रही है। ठीक हो जाएँगे। डॉक्टर के चले जाने के बाद बात छिपाने का सारा दोष आनन्दमयी ने अपने ऊपर ले लिया। सिर्फ इतना कहा तुम्हें खोने के डर से मैंने नहीं बताया।

अब पुनः सुचरिता के प्रसंग पर आते है। सुचरिता परेश बाबू के यहाँ अपने आँसू छिपने

के लिए बक्स पर झुककर कपड़े सँवार रही थी, उसी समय खबर मिली गौरमोहन बाबू आए हैं। सुचरिता जल्दी से आँखें पोंछकर अपना काम छोड़कर उठ खड़ी हुई। इतने में ही गोरा ने कमरे में प्रवेश किया। गोरा ने आते ही भूमि पर माथा टेककर परेश बाबू को प्रणाम किया और उनकी चरण-धूलि ली। परेश बाबू ने हड़बड़ाकर उसे उठाते हुए कहा : आओ आओ बेटा बैठो। गोरा ने कहा—''परेश बाबू, मुझ पर कोई बन्धन नहीं है। मैं हिन्दू नहीं हूँ, आज ही मुझे पता चला मैं म्यूटिनी के समय पाया गया था, मेरा बाप आइरिश मैन था। आज भारतवर्ष के उत्तर से दक्षिण तक सब देव-मन्दिरों के द्वार मेरे लिए बन्द हो गए है सारे देश में आज किसी समाज किसी पंगत में मेरे बैठने के लिए जगह नहीं है।''

परेश और सुचरिता सन्नाटे में आकर बैठे रह गये। गोरा कहता गया, ''इतने दिन से भारतवर्ष को पाने के लिए अपने प्राण लगाकर साधना करता रहा, कहीं-न-कहीं बाधा होती रही। मैं उस बाधा के साथ अपनी श्रद्धा का समझौता कराने के लिए जीवन-भर दिन-रात कोशिश ही करता रहा—श्रद्धा की नींव को पक्का करने की कोशिश में मैं और कोई काम नहीं कर सका—वही मेरी एकमात्र साधना थी। इसीलिए वास्तविक भारतवर्ष से आँखें मिलाकर उसकी सच्ची सेवा करने से मैं बारबार डरकर लौटता ही रहा हूँ।''

गोरा बोला—''मेरी बात आप ठीक समझ रहे हैं न? मैं दिन-रात जो होना चाह रहा था, पर हो नहीं पा रहा था, आज मैं वही हो गया हूँ। आज मैं सारे भारतवर्ष का हूँ। मेरे भीतर हिन्दू, मुसलमान, ख्रिस्तान किसी समाज के प्रति कोई विरोध नहीं है।'' उसने आगे कहा—''आज मैं ऐसा पवित्र हो गया हूँ कि चंडाल के घर भी अब मुझे अपवत्रिता का डर नहीं रहा। आप सबेरे ही बिलकुल खुले मन से मैं ठीक भारतवर्ष की गोद में आ बैठा है—माँ की गोद जिसे कहते हैं, वह आज इतने दिन बाद पूरी तरह अनुभव कर सका हूँ।''

परेश बोले, ''गोरा अपनी माँ की गोद में तुम्हें जो अधिकार मिला है उसमें हमें भी शामिल कर लो।''

गोरा ने कहा—''पता है आज मैं सबसे पहले आपके पास क्यों आया हूँ? क्योंकि मुक्ति का मंत्र आपके पास ही है। आप आज मुझे उसी देवता का मंत्र दीजिए जो हिन्दू मुसलमान, ख्रिस्तान-ब्राह्म सबका है—जिसके मन्दिर का द्वार किसी जाति, किसी व्यक्ति के लिए कभी बन्द नहीं होता—जो केवल हिन्दू का देवता नहीं है,सारे भारतवर्ष का देवता है।''

गोरा उपन्यास का यही फलितार्थ है। आगे की घटना और भी मार्मिक है।

इतनी देर बाद गोरा सुचरिता की ओर मुड़ा वह अपनी कुर्सी पर स्तब्ध बैठी थी।

गोरा ने हँसकर कहा—''सुचरिता, अब मैं तुम्हारा गुरु नहीं हूँ। मैं तुमसे यही प्रार्थना करता हूँ कि मेरा हाथ पकड़कर तुम मुझे इस गुरु के पास ले चलो।''

यों कहते-कहते गोरा ने अपना हाथ सुचरिता की ओर बढ़ा दिया। सुचरिता ने खड़े होकर अपना हाथ गोरा के हाथ पर रख दिया। तब गोरा ने सुचरिता के साथ परेश बाबू को प्रणाम किया।

'गोरा' उपन्यास के अन्त में एक परिशिष्ट है। सबसे मार्मिक दृश्य का चित्रण रवींद्रनाथ ने इसी परिशिष्ट में किया है। 'गोरा' मेरा पुत्र नहीं है। एक आइरिश दम्पत्ति की संतान है। मैं सिर्फ उसकी पालिता माँ हूँ। 'गोरा' यह जान गया है अब उससे मेरा कैसा सम्बन्धा रहेगा। इसी उधेड़बुन में आनन्दमयी चुपचाप अपने बरामदे में बैठी हुई थीं। साँझ को घर लौटकर गोरा ने आनन्दमयी को इसी मुद्रा में देखा। उसने दौड़कर उनके चरणों में प्रणाम करते हुए कहा, ''माँ तुम्हीं मेरी माँ हो, तुम जाति नहीं मानती, किसी से घृणा नहीं करती, तुम्हीं मेरी

माँ हो। तुम्हीं मेरा भारतवर्ष हो।'' गोरा उपन्यास का यही उपसंहार है। यह दृश्य अपने आप में एक टिप्पणी है।

सृजन सौन्दर्य

गोरा उपन्यास सिर्फ गोरा-सुचरिता अथवा आनन्दमयी और कृष्णदयाल तक सीमित नहीं है, भारत को किस तरह धर्म निरपेक्ष रूप से चाहा जा सकता है, इसके समाधान तक भी वह समिति नहीं है, इसमें 'गोरा' की मुख्य कथा से जुड़ी हुई और भी उपकथाएँ हैं अगर वे उपकथाएँ या उनसे जुड़े पात्र न होते तो गोरा, आनन्दमयी, कृष्णदयाल, परेश बाबू का चरित्र भी पूरी तरह नहीं उभर सकता था। कोई भी उपन्यास एक काव्य पाठ अथवा एकल प्रदर्शनी नहीं होता है। विविधताओं का सौन्दर्य ही उसका सौन्दर्य होता है।

रवींद्रनाथ ने गोरा के चरित्र का जो विकास दिखाया है, उसके अनुरूप परिस्थितियों के सृजन के अलावा ऐसे पात्रों की योजना की है, जिसके कारण उसका सहज गति से होने वाला विकास अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों के आघात-प्रतिघात के कारण उसकी एक सहज परिणति दिखायी जा सके। इसके लिए परेश बाबू, परेश बाबू की पत्नी वरदा सुन्दरी, हारान बाबू, आनन्दमयी, उनके पति कृष्णदयाल के अलावा मुख्य भूमिका गोरा के मित्र और परेश बाबू के पुत्री ललिता की है। विनय के बारे में सुकुमार सेन ने अपने इतिहास में लिखा है : ''विनय देह-मन से गोरा का प्रतिरूप है, उसकी छाया नहीं है। बंगाली माध्यम के कॉलेज में पढ़ा हुआ, बुद्धिमान अच्छा लड़का जैसा हो सकता है, विनय वैसा ही है।''

विनय का मन अत्यन्त कोमल है, जिसे वह चाहता है, जिस पर वह श्रद्धा करता है, उसे वह सहसा त्याग नहीं पाता है। उसकी बुद्धि अत्यन्त परिष्कृत है, जिद के वश में आकर वह एक तरफ़ देखकर दूसरी तरफ़ पीठ फेर ले ऐसा नहीं हो सकता था। गोरा के मत से विनय का दोष यह है वह एक वस्तु की दोनों दिशाओं को देखे बिना स्थिर नहीं रह सकता है। इसीलिए तर्क छिड़ने पर विनय की बुद्धि धारदार शस्त्र की तरह झलक देने लगती थी। गोरा के एकांगीपन को प्रतिहार मानकर ही वह अपनी मित्रता को अक्षुण्ण रख सका है।

विनय का बंधुत्व और साहचर्य गोरा के जीवन का एक बहुत बड़ा अवलाचन था, यह बात गोरा बराबर ही जानता रहा था। इसीलिए विनय की निन्दा करने से विरक्त होकर उसने अविनाश से कहा था—''तुम क्या सोचते थे, विनय बुद्धि और क्षमता में मुझसे क्या छोटा है। तुम इस बात को समझ लो अगर उसकी सहायता मुझे न मिलती तो मेरा अपना मत और विश्वास आज मेरे सामनने ही इतना साफ और दृढ़ न हो पाता।''

परेश बाबू के परिवार में विनय से आने-जाने को गोरा पसन्द नहीं करता था। वह सोचता था कि इस समय विनय का मन दूसरे मार्ग पर चल रहा है अगर इसी तरह चलता रहा तो वह देश का काम कैसे कर सकेगा किन्तु आगे चलकर परेश बाबू के घर आने-जाने से विनय और ललिता (परेश बाबू की पुत्री) में जो प्रभाक्रता होती है उसी के प्रभाव से गोरा के मन में परिवर्तन आता है और वह जीवन में स्त्री का महत्त्व समझकर सुचरिता के प्रति आकर्षित होता है जिसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है।

अनान्त्मीय तरुणी के साथ श्रद्धा रहित परिचय की कुण्डा विनय की भूमि को कहानी के उपक्रम में ही सजीव और आस्वादपूरक बना देती है। सुचरिता के प्रति उसका अनुसरण स्वाभाविक प्रेम के अलावा और कुछ नहीं था, एवं वह प्रेम विनय के मन में कोई रंग उत्पन्न करे उसके पहले ही सुचरिता का गोरा के प्रति प्रेम विनय के सामने व्यक्त हो जाता है।

ललिता-विनय का अनुराग मानो विरोध का आश्रय लेकर बदद उठा था। इसके बाद उसके स्पष्ट और तेज अँग्रेजी उच्चारण एवं आवृत्ति ने उसे मुग्ध कर दिया था। सबसे ऊपर गोरा के अपमान से विनय की बगल में आकर खड़े हो जाने एवं उसके साथ स्टीमर पर चले आने से विनय के चित्त में निर्भर प्रेम का बीज बो गया था।

रवींद्रनाथ ने लिखा है, ''ललिता की कमनीय स्त्रीमूर्ति अपने आन्तरिक तेज से विनय की आँखों में आज एक ऐसी महिमा से उद्दीप्त होकर दिखायी दी कि नारी के इस अपूर्व परिचय से विनय ने अपने जीवन को सार्थक अनुभव किया।'' (बांग्ला साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 336)।

इस प्रेम के विरुद्ध सबसे बड़ी बाधा खड़ी हो गयी थी ब्रह्म समाज की संकीर्णता एवं विनय ललिता का स्वाभिमान। परेश बाबू की भूमिका इस उपन्यास में केन्द्रस्थानीय है। इन्हीं के चारित्रिक प्रभाव से मुख्य पात्र-पात्री लक्ष्य भ्रष्ट नहीं हो पाते हैं।

ललिता की भूमिका रवींद्रनाथ द्वारा सृजित नारी चरित्रों में सम्भवतः सबसे तेजस्वी और दीप्त हैं प्रचलित धारणा के अनुसार ललिता को सुन्दरी नहीं कहा जा सकता है, फिर भी परेश बाबू की बेटियों में वही सबकी नज़रों में सबसे अधिक आती है। दूसरे का अन्याय और जुल्म वह किसी भी तरह क्षमा नहीं कर पाती है, जबरदस्ती देखकर अथवा उसका अन्दाज़ लगाते ही उसका हृदय उससे विमुख हो जाता है।

विनय के प्रति ललिता की दृष्टि उसकी अन्याय अथवा जुल्म न सहने की प्रवृत्ति के कारण आकर्षित हुई थी। एक ही दिन गोरा और विनय के साथ उसका परिचय होता है। गोरा का उग्र वेश, उग्रभाव और उग्र तकनिष्ठा ललिता को अच्छी नहीं लगी थी एवं विनय जैसा व्यक्ति जो गोरा के मंत्र से वशीभूत होकर उसी की बातों को दुहराता रहता है यह बात भी उसे पसन्द नहीं आती है। इसलिए इस उपन्यास में उसका बराबर यह प्रयास रहता है कि विनय गोरा के प्रभाव से मुक्त होकर अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व को लेकर खड़ा हो और वह इसमें सफल भी होती है। हारान बाबू और ललिता की माँ वरदासुन्दरी द्वारा उसके विवाह में खड़ी की गयी बाधाओं को अतिक्रमित कर वह परेश बाबू और आनन्दमयी के आशीर्वाद से विनय के साथ विवाह करने में सफल होती है।

पानू बाबू (हारानचन्द्र) वरदासुन्दरी, कृष्णदयाल, महिम, अविनाश, कैलाश और सतीश आदि की भूमिका इस उपन्यास में अत्यन्त सामान्य है। पानू बाबू और वरदासुन्दरी जिस तरह ब्रह्म समाज की संकीर्णता प्रतिनिधि हैं वैसे ही कृष्णलाल और हरि मोहिनी हिन्दू धर्म के बाह्य अनुष्ठान एवं हिन्दू घरों की संकीर्णता स्वार्थपरता के उदाहरण हैं। परेश बाबू और आनन्दमयी दोनों किसी भी तरह की संकीर्णता से मुक्त उदारहृदय के प्रतीक है।

गोरा उपन्यास का सौन्दर्य सिर्फ धर्म की संकीर्णता से मुक्त होकर देशात्मबोध के प्रेम और मानवता बोध तक सीमित है, यह सोचना ठीक नहीं होगा। इसमें वृत्तान्तों का सौन्दर्य जिसे नेरेटिव कहते है उसके सौन्दर्य के अलावा मानव मन के भावों को उभरने या उन्हें उद्दीप्त करने की दृष्टि से प्रकृति का मोहक वर्णन है उनका सौन्दर्य भी रवींद्रनाथ की प्रतिभा के अनुकूल है।

सन्दर्भ :

इस लेख के लिए मैंने जिन लेखकों की पुस्तकों से सामग्री जुटायी है उनका सन्दर्भ निम्न प्रकार है :

1. रवींद्रजीवनी, प्रभात कुमार, मुखोपाध्याय, खण्ड-2 तथा 3
2. रवींद्रनाथ टैगोर रचनावली, भाग-2, 4, 5, शान्तिनिकेतन, भाग-2, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

3. बाङला साहित्य शताब्दी विशेषांक सम्पादक डॉ. रामशंकर द्विवेदी, पत्रिका वर्तमान साहित्य, सितम्बर-अक्टूबर 2000, प्रधान संपादक विभूति नारायण राय व सं. रा. यात्री
4. मृत्युंजय रवींद्रनाथ-हजाारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई, 1963
5. विश्वकवि रवींद्रनाथ, उमेश मिश्र, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद 1941
6. युगमूर्ति रवींद्रनाथ, काका साहब कालेलकर कृष्णा ब्रदर्स अजमेर, 1969
7. बांग्ला साहित्येर गद्य, सुकुमार सेन, आनन्द पब्लिशर्स कलकाता-9, 1998
8. बांग्ला साहित्येर इतिहास, सुकुमार सेन, खण्ड 4, आनन्द पब्लिशर्स, कलकाता-9, 1998
9. देश, साहित्य संख्या (1339 बंगाब्द) संपादक : सागरमय घोष, रवींद्रनाथ पर केन्द्रित
10. देश, 2 मई 2011, संपादक, हर्ष दत्त, रवींद्रनाथ पर केन्द्रित, ए.बी.पी. प्रा. 6, प्रफुल्ल सरकार स्ट्रीट कलकाता-1
11. देश, 16 अगस्त 2019, संपादक, सुमन सेन गुप्त रवींद्र संख्या, वही कलकाता-2
12. गोरा (उपन्यास) अनुवाद-सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' साहित्य अकादमी, 1994
13. रवींद्र रचना संचयन, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली।

गोरा व तत्कालीन समाज

श्रीनारायण पाण्डेय

रवींद्रनाथ ठाकुर का प्रसिद्ध उपन्यास 'गोरा' 1907 से 1909 के बीच 37 किस्तों में 'प्रवासी' बांग्ला पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। जो 1910 में पुस्तकाकार छपा। उपन्यास का मुख्य पात्र 'गोरा' एक आइरिश सन्तान है। पूरे उपन्यास में इसकी जानकारी नहीं दी गई है आखिर में कृष्णदयाल ने गोरा से बताया, जब म्युटिनी थी। हम लोग इटावा में थे। तुम्हारी माँ ने सिपाहियों के डर से भाग कर रात में हमारे घर में आश्रय लिया था। तुम्हारे पिता उसके पहले दिन ही लड़ाई में मारे गये थे। उनका नाम था—गोरा गरजते हुए बोल पड़ा, ''आवश्यक नहीं, उनका नाम मैं नाम नहीं जानना चाहता।'' कृष्ण दयाल गोरा की इस उत्तेजना पर रुक गये। इसके बाद बोले, ''वे आइरिश थे। तुम्हारी माँ तुम्हें जन्म देकर उसी रात मर गयी। उसके बाद से ही तुम हमारे घर में बड़े हुए।'' गोरा उस सत्य को न बताने के लिए न कृष्ण दयाल पर और नहीं आनन्दमयी पर रुष्ट हुआ। वह परेश बाबू के घर जाकर कहता है, ''मैं दिन रात जो होना चाह रहा था, फिर भी हो नहीं पा रहा था, आज मैं वहीं हो गया हूँ। मैं आज भारतवासी हूँ। मेरे भीतर हिन्दू, असल भान ख्रिस्तान किसी समाज का कोई विरोध नहीं है। आज इस भारतवर्ष के सभी लोगों की जाति मेरी जाति है, सभी का अन्न मेरा अन्न है। देखिये मैंने बंगाल के अनेक जिलों में भ्रमण किया है, अति निम्न जाति के लोगों का भी आतिथ्य ग्रहण किया है—मत सोचिये कि मैंने केवल शहर की सभाओं में ही भाषण दिये हैं—लेकिन किसी भी तरह सब लोगों के साथ जाकर नहीं बैठ पाया। मेरे पिता आइरिश मैन थे। भारत वर्ष के उत्तर से दक्षिण तक के समस्त देव-मन्दिरों के द्वार मेरे लिए बन्द हो गये, आशा सम्पूर्ण देश में किसी पंगत में किसी स्थान पर बैठने का आसन नहीं है। आज मैं बन्धन मुक्त हूँ। मैं हिन्दू नहीं हूँ। आज मैं मुक्त हूँ।'' वह परेश बाबू के पास दीक्षा लेने गया है। कहता है, ''आप मुझे अपना शिष्य बना लीजिए। आप मुझे उसी देवता का मंत्र दीजिये, जो हिन्दू मुसलमान, ख्रिस्तान सभी के हैं—जिनके मन्दिर के द्वार किसी जाति के लिए, किसी व्यक्ति के लिए कभी बन्द नहीं होते, जो केवल हिन्दू देवता नहीं हैं, जो भारतवर्ष के देवता हैं।''

अभी तक गोरा कहाँ हिन्दू बनकर सप्त कोटि बंगाली संतानों को मानुष बनाने की साधना कर रहा था, आज वह हिन्दुत्व को परमोत्याग कर त्रिंश कोटि भारतवासियों की सेवा में अपने को समर्पित कर रहा है। उपन्यास के इस अन्तिम अध्याय के गोरा के वक्तव्य को ही रवींद्रनाथ का वक्तव्य माना जाना चाहिए। जाति, वर्ण, धर्म निर्विशेष समाज की सरंचना ही रवींद्रनाथ को काम्य था। यहाँ तक पहुँचने में गोरा को समय लगा था।

दुनिया के हर धर्म और समाज में विच्छिन्नतावादी प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। रवींद्रनाथ का पाठक समुदाय न केवल बंगाल था और नहीं केवल भारतवर्ष, बल्कि सारा विश्व था। वे उसी तरह के लेखक थे जैसे टॉलस्टाय और शेक्सपियर। दुनिया की तमाम भाषाओं में उनकी रचनाओं का अनुवाद हुआ है। सर सी.वी.ई. चिन्तामणि ने अपनी किताब 'भारतीय राजनीति के अस्सी वर्ष' में लिखा है कि ''अपनी यूरोप यात्रा में मैंने इग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी या वेल्जियम के जो रेलवे स्टेशन देखे, उसमें पुस्तकों की कोई ऐसी दुकान नहीं देखी, जिस पर रवींद्रनाथ की रचनाओं के वहाँ की उनकी भाषा में अनुवाद न मिल सकते हों। पेरिस से बार्सोवा तक मेरे एक साहयात्री, जो नार्वे निवासी थे उन्होंने मुझे बताया कि उनके देश में टैगोर के नाम से सभी परिचित हैं, तथा यह कि वे स्वयं अपनी भाषा के अनुवादों द्वारा रवींद्रनाथ की प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण रचनायें पढ़ चुके हैं। उन्होंने यह भी लिखा है कि वे राजनीति में नहीं है। वे बंगाल के सुपुत्र हैं, परन्तु सारे भारत पर उनको गर्व है और विश्व ख्याति में तो वे गाँधी के समकक्ष हैं।'' सर राधा कृष्णन के आमंत्रण पर आन्ध्र विश्वविद्यालय में 1935 में उन्होंने भारतीय राजनीति सिपाही-विद्रोह के समय से विषय पर तीन व्याख्यान दिये थे, जो 1737 में पुस्तकाकार छपे थे। हिन्दी में उसका अनुवाद केशवचन्द्र शर्मा ने किया है जो हिन्दुस्तानी-एकादमी से छपी है। गोरा 1910 में ही पुस्तकाकार छप गयी थी। और संयोग ही है कि इस व्याख्यानमाला की पृष्ठभूमि सिपाही-विद्रोही है और 'गोरा' उपन्यास का नायक भी सिपाही-विद्रोह में मरने वाले सिपाही की आइरिश सन्तान है। निश्चय ही रवींद्रनाथ की यह पुस्तक अनूदित हो गई होगी और रवींद्रनाथ के धर्म और समाज की इस अवधारणा को विश्व-पाठक समुदाय ने हृदयंगम किया होगा। 'गोरा' का यह आवेदन वैश्विक था क्योंकि रवींद्रनाथ विश्व विख्यात लेखक थे।

इस तरह की अनुभूति की पृष्ठभूमि भारतीय नवजागरण है। जिस भारतीय नवजागरण का प्रथम भूखण्ड बंगाल को माना जाता है, रवींद्रनाथ का जन्म उसी बंगाल में कलकत्ता शहर के जोड़ा साँकू मुहल्ले में 1861 में पिता देवेन्द्रनाथ ठाकुर और माता सरदार जी के यहाँ हुआ था। ब्रह्म समाज के मंत्री थे। बाद में उन्होंने उसकी सदस्यता से अपना नाम कटवा दिया था। ब्रह्म समााज की स्थापना उस समय हुई थी, जब ईसाई धर्म के प्रभाव में आकर हिन्दू, ईसाई होते जा रहे थे। ब्रह्म समाज में उदारता थी, जाति पाँति, धर्म का भेदभाव नहीं था। यहाँ तक कि मुसलमान को भी ब्रह्म समाज में दीक्षा दी गयी थी। एक समय ईश्वरचंद विद्यासागर और विवेकानन्द भी इनकी सभाओं में जाते थे। बाद में इसके भी कई भाग हो गये। और उसका पहले का महत्त्व जाता रहा। 'गोरा' में वरदा सुन्दरी और परेश बाबू के ब्रह्मसमाजी परिवार की उपकथा का वृतान्त है। रवींद्रनाथ परवर्ती काल में ब्रह्म समाज की गतिविधि देखकर उससे अलग हो गये थे।

नवजागरण दो रूपों में जाना जाता हैं एक सांस्कृतिक नवजागरण और दूसरा राजनैतिक। हिन्दी में नामवर सिंह बंगाल के नव-जागरण को सांस्कृतिक नवजागरण कहते हैं। कहना न होगा कि बंगाल के आरम्भिक दौर का जागरण सांस्कृतिक ही था जिसके पुरोधा राममोहन

राय थे। उसका मूल उद्देश्य समाज-संस्कार ही था, राजनैतिक जागरण का प्रवेश परवर्ती काल की घटना है सी.वी.ई. चिन्तामणि का यह कथन कि ''वे राजनीति में नहीं हैं'' उतनी ही दूर तक सच है कि वे सुरेन्द्रनाथ बनर्जी जैसे राजनीति के सक्रिय कार्यकर्ता नहीं वे, मगर राजनीति का कुफल, भारतीय जनमानस पर किस प्रकार पड़ रहा था, उससे उद्वेलित नहीं होते थे ऐसा नहीं है। बंग-भंग के समय विरोध में उनकी सक्रिय भागीदारी तथा जलियाँवाला बाग में होने वाले नर-संहार में 'नाईटहुड' को त्यागना उनकी राजनीतिक सद्भावना का ही प्रमाण है। 'सार्थक जन्म आमार जन्मेछि एइ देशे' (इस देश में जन्म लेकर मेरा जन्म सार्थक है) या 'ओ गो, आमार देशेरमाटी, तोमार पाये ठेकाई माथा' (ओ, रे, मेरे देश की माटी, तेरे पग पर मत्था टेक रहा हूँ।) बंग भंग में तो वे इतने सक्रिय थे कि 'गले में हारमोनियम लटका कर औरों के साथ सड़क पर गीत गाते निकलते थे। 'गोरा' में भी इस तरह का सत्ता विरोधी प्रतिरोध दर्ज है, इसकी चर्चा हम आगे करेंगे। यह सब तत्कालीन घटनाओं का ही प्रभाव है।

अगर हम तत्कालीन बंग-समाज को देखे तो एक ओर वह राजनीतिक दृष्टि से अंग्रेजी-शासन का गुलाम था। उसका आर्थिक शोषण तो हो ही रहा था, सांस्कृतिक दृष्टि से भी गुलाम—आचरणगत गुलामी, जिधर देखिये उधर गुलामी ही गुलामी नजर आ रही थी। प्रशासनिक सुविधा के लिए जमींदारी प्रथा का, चलन, विदेशी शासकों और व्यापारियों को लूटपाट की अबाध सुविधा और किसानों पर अमानुषिक जुल्म रोजमर्रा की कहानी थी। ऐसा नहीं कि इसका प्रतिरोध एकदम न हुआ हो। मिसाल के तौर पर दीनबन्धु मित्र का किसान-प्रतिरोध। जिसका विस्फोट 1857 का स्वाधीनता संग्राम है और सांस्कृतिक स्तर पर धार्मिक रक्षा के लिए ब्रह्म समाज की स्थापना। यह जागरण मूलतः पढ़े लिखे, पाश्चात्य सभ्यता के परिचित मध्यवर्गीय बंगालियों का था। उन दिनों मोटे तौर पर तीन तरह के मनोभावापन्न लोग थे। एक संरक्षणवादी, राधाकान्त देव जैसे दूसरे, भारतीय अस्मितावादी राममोहन राय, तीसरे डिरेजियो जैसे चौथे मध्यमार्गी-विद्यासागर जो बाल-विवाह, विधवा विवाह के पक्षधर मगर सती प्रथा के विरोधी समाज संस्कारक। किन्तु सब में एक बात मुख्य है। भारतीय समाज का संस्कार पाश्चात्य सभ्यता से भारतीय सभ्यता की रक्षा। हमारे समाज ने जिस प्रकार स्वनिर्मित जाति-पाँति, धर्म, आचार-विचार, रीति-रिवाज के बन्धन से अपने को बाँध रखा था, उससे मुक्ति, एक दम नया कुछ नहीं, एक संस्कारित समाज व्यवस्था का निमीश वयस्क हो गया था। कुछ नये की तलाश सब को थी। सामाजिक स्वाधीनता का प्रश्न आगे था राजनीतिक स्वाधीनता का पीछे। यह भी आया मगर 'गोरा' लिखे जाने के बाद। इसलिए गोरा में सामाजिक समस्या को जितनी जगह मिली है राजनीतिक को उतनी नहीं। सभी जानते हैं कि उस समय की प्रमुख राजनीतिक संस्था कांग्रेस अभी तक अनुनय-विनय के प्रलोभन में फँसी थी और जो उग्रवादी दल उभर रहा था, रवींद्रनाथ का उससे मेल नहीं खाता था। इसलिए बंग-भंग आन्दोलन से अपने को उन्होंने अलग कर लिया था। किन्तु स्वदेशिकता, का भाव बराबर बना हुआ था।

बांग्ला में राममोहन राय को बांग्ला गद्य आर्किटेक्ट कहा जाता है तो रवींद्रनाथ को कविगुरु। कहते हैं यह सम्बोधन गाँधी जी का दिया हुआ है। अगर रवींद्रनाथ को जानना होगा तो उनकी किसी एक विधा या एक रचना को पढ़कर नहीं जाना जा सकता। उसके लिए उनके गद्य और काव्य के साथ चित्रकला तथा शान्ति निकेतन और श्रीनिकेतन को भी मिला लेना होगा, क्योंकि यह भी केवल शैक्षणिक संस्थान नहीं, उनकी चिन्ताधारा के मूर्त रूप हैं। इसलिए कि रवींद्रनाथ का पूरा व्यक्तित्व गत्यात्मक है। अतएव एक स्थान में ही रवींद्रनाथ को खोजेंगे तो फिर हाथी के एक अंग को ही हाथी कहना होगा। गोरा पढ़ते समय भी हमें यह ध्यान रखना

होगा। क्योंकि गोरा 'गोरा' के बाद अकेले एक चरित्र में फिर खोजे नहीं मिलता। गोरा का प्रत्यावर्तन न होना यह नहीं बताता कि जिस उद्देश्य की दीक्षा गोरा ने ली, रवींद्रनाथ ने उसे वहीं छोड़ दिया। भारतीय समाज की प्रतिगामी प्रवृत्ति और समाज देशप्रेम की भावना उनकी रचनाओं में भी विद्यमान है।

रवींद्रनाथ जिस समाज में थे, शुरू से ही उसमें उन्हें कुछ बदलाव की आवश्यकता महसूस हो रही थी। इसलिए 19 वर्ष की अवस्था में उन्होंने 'स्वप्नभंग' कविता में लिखा—'आर चारिदिके मोर/एक कारागार घोर/भाँङ् भाँङ् कारा/आघाते आघात कर—(और चतुर्दिक मेरे/यह क्या बन्दी खाना/तोड़ो, तोड़ो बन्दी खाना/करो चोट पर चोट), तथा नारी मुक्ति के आह्वान पर उनकी कविता 'मानुषेर माँझे आमि बाँचिवारे चाई (चाह रही हूँ मैं मनुष्य के संग जीना) तथा असह्य वेदना की अभिव्यक्ति : 'इहार चेये हो तुम यदि अरबावेदुइन' (अच्छा होता यदि बंजारनें अरब देश की होती।) भारतीय समाज में नारी वेदना की यह अभिव्यक्ति गोरा में भी देखने को मिलेगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गोरा में किस प्रकार तत्कालीन बंगाल के परिवार और समाज में रहने वाले नारी-पुरुष को धर्म और जातिभेद का दण्ड भोगना पड़ रहा था, ऊपर से विदेशी-शासक का वज्र-प्रहार तो हो ही रहा था। वे बदलाव चाह रहे थे। तत्कालीन बंग समाज सांस्कृतिक और राजनीतिक कारागार में बन्दी था। एक का कारण वह स्वयं था, दूसरे की ब्रिटिश सरकार, इन दोनों से मुक्ति ही गोरा की मुक्ति हैं।

रवींद्रनाथ में प्राची और प्रतीची दोनों का संगम है मगर पलड़ा भारी है प्राची का। उन दिनों पाश्चात्य की जोरदार लहर आयी थी। ब्रह्म समाज उसी के प्रतिरोध में बना था। रवींद्रनाथ उसमें थे, मगर लौट आये थे। रवींद्रनाथ का एक लेख है 'तपोवन'—जो उनकी शिक्षा पुस्तक में है। उसमें उन्होंने लिखा है, ''भारतवर्ष जब जबरदस्ती अपने को यूरोपीय आदर्श में ढालने की कोशिश करेगा तो वह यूरोप नहीं विकृत भारतवर्ष होगा। भारतवर्ष में जो उदार सम्पदा संचित है वही तपस्या आज हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध एवं अंग्रेजों को अपने में एक कर लेने की प्रतीक्षा कर रही हैं, गुलाम बनाकर नहीं, सात्विक भाव से। जब तक यह नहीं होगा, तब तक हमारी सामाजिक व्यवस्था व्यर्थ होगी।'' रवींद्रनाथ भारतीयता की तलाश में थे।

गोरा उपन्यास के 'गोरा' ने तो यही देखा था। न उसे सुचरिता से शादी की अनुमति मिल रही थी और न हिन्दू संस्कारों में प्रवेश की, क्योंकि वह आइरिश संतान था। रवींद्रनाथ जिस महामानवीय संगम के तट पर सभी के सम्मेलन की प्रतीक्षा कर रहे थे, गोरा उसी धर्म की तलाश कर रहा था। रवींद्रनाथ ने 'गोरा' को इसीलिए लिखा कि वे समाज को व्यर्थ नहीं अर्थवान बनाना चाहते थे। एक समय वह भी था जब रवींद्रनाथ विवेकानन्द की तरह भारतीय शास्त्र व आचार्य-विचार के पक्षधर थे, परन्तु बाद में यह विचार बदल गया था। यह उनके 'ब्राह्मण' निबन्ध में देखा जा सकता है। बंग-बंग के समय जो साम्प्रदायिक दंगा हुआ था, हिन्दू-मुसलिम वैमनस्य की तत्कालीन समाज की चिन्ता रवींद्रनाथ की चिन्ता थी। 'गोरा' में मुसलमान लड़के तमीज के आश्रय का उल्लेख है। इस प्रकार धर्म से लेकर नारी जीवन की विविध समस्या, प्रेम-विवाह, बाल-विवाह, विधवा का छला जाना, विदेशी अफसरों का साधारण जनता पर अमानुषिक अत्याचार और को लेकर गोरा का कथानक निर्मित हुआ है।

गोरा रवींद्रनाथ का पहला उपन्यास नहीं है। इसके पहले उन्होंने 'करुणा' लिखा था जो छपा नहीं, बाद में 'बऊ ठकुरानी' व 'राजर्षि' दो ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। इसके 16 वर्ष अन्तराल के बाद 'चोखेर बालि', व 'नौका डूबी' लिखा। गोरा उसके बाद का उपन्यास है। इसके बाद भी और उपन्यास उन्होंने लिखे। मगर 'गोरा' का प्रत्यावर्तन किसी उपन्यास में नहीं

दिखा, समस्यायें सभी में आयीं। अन्य रूपों में आयीं, मैं कुछ बांग्ला आलोचकों को उद्धृत करना चाहूँगा। डॉ. सुकुमार सेन ने 'बाँग्ला साहित्येर इतिहास' तृतीय खण्ड में उपन्यास परिच्छेद में लिखा है कि ''गोरा' एक विराट नये ढंग का उपन्यास है। अभी तक रवींद्रनाथ उपन्यासों में स्त्री-पुरुष के आकर्षण-विकर्षण की समस्या पर ही लिख रहे थे। गोरा का परिक्षेत्र और भी विस्तृत है। आधुनिक भारत की कठिन समस्या हिन्दू समाज एवं भारतीय सभ्यता के मरने-जीने की समस्या, इस उपन्यास के चरित्रों के साथ जुड़ी है। गोरा के व्यक्तित्व के साथ समाज का, समाज के साथ धर्म का एवं धर्म के साथ मानव सत्य के विरोध व समन्वय का निर्देश उद्घाटित है। भारतीय संस्कृति की उदार निरपेक्षता, ब्राह्मणों में सार्वभौम करुणा के होते हुए भी समाज में वैषम्य, आचार-विचार, एवं जाति भेद का जंजाल तथा जन-साधारण का दारिद्र्य व मूढ़ता इस देश को तिल-तिल कर विनाश की ओर ले जा रहे है, इसकी उपलब्धि यह है कि रवींद्रनाथ ने इस उपन्यास में इसके समाधान की ओर संकेत दिए हैं। हिन्दूसमाज की अनुदारता तथा आचार को धर्म के स्थान पर प्रतिष्ठित करने की मूढ़ता जो समाज को अहरह संकीर्णता से संस्कारी बनाकर मानव जीवन को कठिन बनाता जा रहा है, रवींद्रनाथ से पहले इसे इतनी गहराई से और किसी ने नहीं सोचा था।'' भारत वर्ष के प्राचीन आदर्श तथा निराडम्बर, त्यागमय ब्राह्मण जीवन के प्रति रवींद्रनाथ की श्रद्धा और अनुराना दोनों को 'तपोवन' निबन्ध में देखा जा सकता है। उस छोटे निबन्ध और विशालकाय 'गोरा' की मर्म कथा एक ही है कि जब तक सामाजिक वैषम्य, आचार विचार और जाति भेद का जंजाल दूर नहीं होगा—तब तक हम बारम्बार व्यर्थ होते रहेंगे।''

डॉ. असित कुमार बंदोपाध्याय ने अपने ग्रन्थ 'बाँग्ला साहित्येर इतिवृत' में गोरा को बृहत्तर समस्या मूलक उपन्यास कहते हुये कहा है कि ''उपन्यास रचना के प्रारम्भिक दौर में नर-नारी के हृदय द्वन्द्व एवं उसके साथ समाज, परिवार व नैतिक चेतना के सम्पर्क को लेकर नाना ढंग से विचार किया गया है, किन्तु बीसवीं सदी के अशान्त समाज और विक्षुब्ध राजनीतिक चेतना के आघात से अब की बार उन्होंने बृहत्तर पटल पर बृहत्तर समस्या के समाधन पर 'गोरा' 'घरे बाइरे' व 'चार अध्याय' उपन्यास लिखा। युग धर्म नर-नारी के जीवन को किस प्रकार प्रभावित कर सकता है, राजनीति, समाज और स्वदेशिकता ने किस प्रकार बंगाली जीवन को प्रभावित किया, ये उपन्यास उसके दृष्टान्त हैं।'' गोरा आधुनिक भारतीय साहित्य में युगान्तरकारी उपन्यास है। यूरोप के Epicnovel जैसा है। सम्पूर्ण जाति के मानसिक संकट की कहानी इसका मूल वक्तव्य है। गोरा बाद में जान पाया कि वह आइरिश है। प्रबल चरित्र, प्रबल कण्ठतर से यही घोषित करता था कि भारत वर्ष हिन्दू धर्म देश है, हिन्दू धर्म के आचार-आचरण का निष्ठा से पालन करना ही देश हितैषिता है। इसके लिए ताल ठोक कर सबसे लड़ने को उतरा है। इसके लिए ताल ठोक कर सबसे लड़ने को वह तैयार रहता है। गोरा को यहाँ तक कवि ने उग्र जातियतावादी बनाकर पेश किया है। इसी गोरा के मानसिक परिवर्तन, मानसिक रूपान्तर और वास्तविक भारतीयता की ओर संकेत करके रवींद्रनाथ ने कहानी का अन्त किया है।

निहार रंजन रे ने लिखा है कि ''गोरा बांग्ला साहित्य में एक ऐसा उपन्यास है जिसमें शिक्षित बँगाली मध्यवृत्त परिवार के एक विशेष युग की सामाजिक व राष्ट्रीय चिन्ताधारा व आदर्श, विक्षोभ व आन्दोलन, धर्म व जातीय जीवन नये, आदर्श की तलाश, विचार-परिवर्तन संक्षेप में कहें तो सारी जाति व देश, रक्षावादी श्रेणी की सम्पूर्ण जीवन धारा का वर्णन है। समाज के सम्पर्क में आकर निरंतर संघर्ष करते हुए है वैश्विक चेतना में उत्तरणा गोरा की

विशेषता है।'' इन आलोचनाओं से यही पता लगता है कि सामाजिक और राजनीतिक संकट की समस्या गोरा की मूल समस्या है। देखना यह है कि वे कौन-कौन से बिन्दु हैं, जिनसे तत्कालीन बंग समाज या शिक्षित बँगाल मध्यवर्ग संघर्ष कर रहा था। मोटे तौर पर देखा जाये तो पूरे उपन्यास का ताना बाना पारिवारिक जीवन में आयी नवीन विचारधारा और उसी जीवन में समान्तर चलती हुई सनातनवादी चिन्ताधारा से बुना हुआ है। आचार-विचार हो चाहे जीवन, नये और पुराने के साथ टकरा रहे हैं। यह जरूरी है कि इस संघर्ष में विजय नये की हो रही है। इसका एक पक्ष राजनीति भी है।

पहले हम उस धार्मिक परिवर्तन का उल्लेख कर रहे हैं। उस समय बंगाल में ब्रह्म समाज का जोर चल रहा था। हिन्दू धर्म में विरोध चल रहा था। उपन्यास में रक्षणशील हिन्दू परिवार जैसे कृष्ण दयाल बाबू की रक्षणशीलता, तथा वरदा सुन्दरी और परेश बाबू की ब्राह्मण समाज में आधुनिकता का जोर इन परिवारों में प्रचलित धार्मिक आस्था में द्वन्द्व। जैसे ललिता और विनय तथा सुचरिता और गोरा के प्रेम सम्बन्धों में धार्मिक बाधायें रवींद्रनाथ ने दोनों का समाधान दिया है। दोनों वैवाहिक बन्धन में बँधे हैं।

दूसरी जगह गोरा को ख्रिस्तान होने के नाते कृष्ण दयाल द्वारा हिन्दू संस्कारों से अस्वीकार करना, जबकि आनन्दमयी की वात्सल्य भावना इसके विपरीत है।

नारी समस्या में परस्पर प्रेम-विवाह की अस्वीकृति के अलावा उस समय बाल-विवाह का भी चलन था। जैसे महिम का, पुत्री शशि मुखी के विवाह का दुराग्रह। नारी की तीसरी सामाजिक समस्या वैधव्य की है। जिस प्रथा की अभिषप्त हरिमोहिनी है। धोखे-धड़ी से उसकी आर्थिक-सम्पत्ति का अपहरण। सुचरिता और गौर मोहन के सम्बन्धों में संस्कारवदिता व धार्मिक कट्टरता का आग्रह। नारी की आधुनिता के प्रति आकर्षण किन्तु पुराणपंथि द्वारा उसका अस्वीकार।

धार्मिक शुचिता के कृष्ण दयाल बाबू द्वारा 'गोरा' को हिन्दू धार्मिक वृत्यों से वचित करना, वरदा सुन्दरी द्वारा विनय का सालिकग्राम पूजा न करने देकर ब्रह्म समाज के नियमों में विवाह की जिद। यानी उस समय नव शिक्षित बंगीय समाज भी उस धार्मिक की धर्मोदय रूढ़ियों में जकड़ा हुआ था। उल्लेखनीय है कि जिन दिनों रवींद्रनाथ गोरा लिख रहे थे तथा बंगाली नारियों का यह चरित्र प्रस्तुत कर रहे थे उसी समय 1908 में उन्होंने अपने पुत्र रवींद्रनाथ ठाकुर का विवाह एक विधवा से किया था। ठाकुर परिवार में यह पहला विधवा विवाह था। एक ओर रवींद्रनाथ नारी को प्राचीन परम्परा से मुक्त कर रहे थे, दूसरी ओर सामाजिक शृंखला में बँधी नारियों की ओर समाज को आकर्षित कर रहे थे।

ब्रह्मसमाज से भिन्न इस्लाम और हिन्दू धर्म के भेदभाव और छूआछूत का वर्णन भी रवींद्रनाथ ने किया है। गोरा में यों तो मूल गाथा प्रेम की है। किन्तु इसके बीच उस समय की बंगदेशी जातीय चेतना का भी एक मर्मान्तक साथ ही उत्साहवर्द्धक कहानी मजिस्ट्रेट द्वारा छात्रों को बेंत की सजा प्रहर तथा गोरा को जेल देने की है। इस कहानी में जितनी राष्ट्रीयता है उससे अधिक मानवीयता है। रवींद्रनाथ ने हिन्दू-मुसलमान पर कई जगह लिखा है। इसमें हमारी दृष्टि में फरु एक ऐसा चरित्र है जो उपन्यास में सबसे प्राणवान है। अंग्रेजी सरकार के अन्याय की विरोध करती है। रवींद्रनाथ ने लिखा है भद्र समाज, शिक्षित समाज यह नहीं जानता कि कलकत्ता के बाहर का समाज कैसा है। गोरा ने देखा कि यह ग्राम्य भारतवर्ष कितना विच्छिन्न कितना संकीर्ण, कितना दुर्बल है,वह अपनी शक्ति से नितान्त अचेतन और उदासीन है। गोरा के साथ रमापति थी। वे एक मुस्लिम गाँव में पहुँचे जहाँ कोई हिन्दू नहीं था। खोजते-खोजते एक नारी का घर मिला। इन्होंने देखा कि वृद्ध नारी और उसकी पत्नी एक

मुसलमान बालक का पालन कर रही है। गोरा ने उसके इस आचरण की निंदा की। नाई बोला, ठाकुर (ब्राह्मण) हम लोग कहते है हरि वे लोग कहते हैं अल्लाह, कोई भेद नहीं। रमापति ने कहा हिन्दू के पीने का पानी कहा मिलेगा। नाई के घर में कुआँ था, मगर रमापति ने पानी नहीं पिया।

गोरा ने पूछा इस लड़के के माँ-बाप हैं। नाई ने कहा न रहने के बराबर। फिर नाई ने बताया—''हम लोग जहाँ रह रहे हैं वह नालहों की जमींदारी है। साहब बड़ा अत्याचार करते हैं। सभी उनके वश में है। यह मुसलमानों का गाँव है, फरु उनका मुखिया है, वह किसी से नहीं डरता। नील कोठी के झगड़े में पुलिस पर लाठी चला कर जेल काट आया है। इस बार के झगड़े के समय फरु ने साहब के दायें हाथ पर ऐसी लाठी जमाई कि अस्पताल में उसका वह हाथ काटना पड़ा। इसके बाद गाँव में उत्पात मचा। गाँव के कुछ लोगों के साथ फरु को हवालात में डाल दिया गया। फरु का परिवार आज अन्नहीन हो गया है, इतना कि उसके पहनने वाले कपड़ों की ऐसी हालत हो गई है, वह घर से बाहर नहीं निकल पाता। उसका लड़का तमीज नाई की पत्नी को मौसी कहता था। उसका पालन-पोषण देख नाई की पत्नी घर लाकर उसका पालन-पोषण कर रही है।'' गोरा ऐसे व्यक्ति के घर का खाना खाने में परहेज करता है, और स्वयं उसके यहाँ से सामान माँग कर खाना बनाता है। गोरा इसे अच्छा नहीं समझता, मगर अपने हिन्दुत्व की रक्षा के लिए इस विचार को टाल देता है कि इस पर फिर सोचेंगे। रवींद्रनाथ ने इसी उपन्यासों में एक जगह कहा है, जो अन्याय करता है वह भी दोषी है और जो अन्याय सहता है वह भी दोषी है।'' रवींद्रनाथ के कथन को ही सार्थक कर रहा था। फरु का सत्ता विरोध उस समय बँगाल में उभरती क्रान्तिकारी चेतना का निदर्शन है। फरु के चरित्र को देखकर हमें दीनबन्धु मित्र के 'नील दर्पण' के 'तोरप' की याद आती है जिसने नीलहे साहब की नाक काट डाली थी। वह भी मुसलमान था। फरु भी मुसलमान है। उसने ऐसी मार मारी कि साहब को हाथ कटवाना पड़ा। पहले वाला साहब 'नक्कटा' बना बाद का साहब 'हथकटा' हुआ।

मैंने गोरा को जहाँ तक पढ़ा और पाया वह यह कि गोरा में उस समय के हिंदू रक्षणशील और अरक्षणशील के द्वन्द की कथा एक ओर, दूसरी ओर शिक्षित बंग युवक और युवतियों की प्रेम कथा के साथ बंगीय नवजागरण की क्रान्तिकारी चेतना के उभार का चित्रण है। और मुझे कहना होगा तो मैं कहूँगा 'फरु' गोरा का सबसे तेजस्वी चरित्र है। बाकी चरित्र कर्मक्षेत्र से अलग वाक्-क्षेत्र में ज़बान लड़ा रहे हैं, यहाँ तक कि गोरा भी। फरु मैदानी लड़ाई लड़ रहा है, सामने माथा न टेकने वाला। आलोचकों की दृष्टि में गोरा 'गोरा' का मुख्य चरित्र है। मैं असमंजस में हूँ शिवा को सराहूँ या...गोरा तेजस्वी चरित्र है, किंतु फरु भी कम नहीं है। क्योंकि उन दिनों सांस्कृतिक चेतना की अपेक्षा, धर्म, जाति से मुक्त, अंग्रेज शासन विरोधी जो चेतना बंगाल में सक्रिय थी फरु उसका संवाहक है। दूसरे वे नाई दम्पत्ति हैं, जो किसी धर्म या जाति की परवाह किये बिना रवींद्रनाथ व गाँधी के 'मानवधर्म' 'ईश्वर अल्ला एकी नाम' का मर्म समझा रहे हैं, और इधर और पात्र या तो ब्रह्म है या सांस्कृतिक हिन्दू, आचार-विचार के भौंर में फँसे हैं। रहा, गोरा और विनय तो वे निश्चित ही नहीं कर पा रहा हैं कि हिन्दू धर्म, या भारतवर्ष का धर्म क्या है। जिस तरह विनय उसी तरह गोरा पढ़े लिखे बंगाली हिन्दू समाज की द्वन्द्वात्मक मानसिकता के शिकार हैं। रवींद्रनाथ मानवधर्मी थे उसका पालन फरु और वे नाई दम्पति कर रहे हैं। इस प्रकार गोरा में नवजागरण की दोनों धारायें प्रवाहित हो रही हैं। सांस्कृतिक धारा का संवाहक गोरा है तो राजनैतिक धारा का फरु।

आज के समाज के आमने-सामने अगर गोरा को रखकर देखें तो भारतीय संस्कृति और आचार-विचार की असहिष्णुतावादी परम्परा को पुनर्प्रतिष्ठित करने की चेष्टा दिखायी पड़ रही है। धार्मिक विद्वेष, जातिवादी विच्छिन्नता प्रतिगामी रीति-रिवाज के प्रति अंध-विश्वास एक नहीं सभी धर्मावलम्बियों में बढ़ रहा है। जिस पश्चिमी प्रभाव से रवींद्रनाथ ने बचने को कहा था वह पश्चिम भारत माँ की गोद से पूरब को ढकेल खुद बैठ गया है और राजनीति में प्रेमचन्द की भाषा में कहें तो केवल टोपी बदली है उसका रंग भी स्थिर नहीं है।

आज प्रतिरोध, अनुरोध में बदल गया है महज सत्ता-स्वार्थ के लिऐ। अगर आज गोरा और फरु जन्म लेते तो कहते—''माँ गो निरर्थक जन्म आमार एइ देशे।

रवींद्रनाथ लिखित 'गोरा' और भारतीय देशभक्ति की असाध्य समस्या

तनिका सरकार
अनु. : धर्मराज कुमार

आधुनिक भारत में, विभिन्न कारणों से देशभक्ति के लिए एक महत्त्वपूर्ण स्थान बना पाना बहुत कठिन रहा है। 19 वीं और 20 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में, भारतीय देशभक्ति को हिंदू राष्ट्रवाद के रूप में पेश किया गया। रवींद्रनाथ टैगोर लिखित 'गोरा' 1905-08 के विभाजन-विरोधी स्वदेशी आंदोलन के तत्काल बाद 1909 में प्रकाशित, जातीयता को, जो इस तरह की विकृति का कारण बनती है, पूरी तरह नकार देता है। लेकिन, इसमें देशभक्ति का स्वरूप सार्वभौमिकता के बहुत निकट है। यह देशभक्ति, भारतीय देशभक्त होने का मौलिक तरीका प्रदान करते हुए, संसार के सारे असहाय लोगों के लिए प्यार में घुल मिल जाती है।

इस आलेख को उल्लिखित रूप मे तैयार किया गया हैः मेरा पहला तर्क है कि आधुनिक भारतीय देशभक्ति के लिए, विभिन्न ऐतिहासिक कारणों से, अपने लिए गहरी पैठ बना पाना असाधारण रूप से कठिन है। उसके बाद, मैं उन पहलुओं की चर्चा करूंगी जिसमें उन समस्याओं को 19वीं सदी के उत्तरार्ध और 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में सुलझाने की बात कही गई थीः उन विभिन्न हिंदू राष्ट्रवादी संकल्पों के द्वारा, जिन्होंने भारतीय देशभक्ति की तुलना हिन्दू राष्ट्रवाद से की एवं देश को सिर्फ हिन्दुओं का देश कहा। अंतिम खंड में, मैं एक विशिष्ट भारतीय देशभक्ति के उस काल्पनिक भाव की चर्चा करूंगी जिसे रवींद्रनाथ टैगोर ने 'गोरा' (1909) में विस्तार से लिखा।[1] बंगाल में बहुत व्यापक विद्रोह के तुरंत बाद यह औपनिवेशिक शासन के खिलाफ लिखा गया था। अंत में, उन प्रयासों की महत्ता पर कुछ टिप्पणियों एवं उनकी संभावनाओं की क्षणभंगुरता के साथ निष्कर्ष रखूँगी।

यह उपन्यास 100 साल पहले लिखा गया था। इस उपन्यास में उस समय उठाये गए गंभीर सवाल, जो अनसुलझे और विवादास्पद रह गए, आज भी प्रासंगिक हैं। जाति, विश्वास, देश की स्वतंत्रता और व्यक्तिगत आत्मनिर्णय, सामाजिक रूप से निषिद्ध प्रेम और देशभक्ति। यह हिन्दू राष्ट्रवाद के कुछ तर्कों को पुनरुत्पन्न कर गंभीर प्रश्न खड़े करता हैः पहला, 19

वीं सदी के उत्तरार्ध में पुनरुत्थानवादियों द्वारा विस्तारपूर्वक एवं उसके बाद, अलग तरीके से, बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय के उपन्यास 'आनंदमठ' में प्रभावशाली रूप से विकसित किया गया, जो 'गोरा' से तीन दशक पहले लिखा गया था।[2] इसके विपरीत, 'गोरा' भारतीय देशभक्ति का एक अनोखा स्वरूप पेश करता है। यद्यपि भारतीय देशभक्ति पहले से ही, विशेषकर स्वदेशी आंदोलन के दौरान, एक व्यापक भाव में तब्दील हो चुकी थी और हिन्दू राष्ट्रवाद की अवधारणा से हमेशा भिन्न नहीं रही। बल्कि, इस आंदोलन की निर्मिति में हिन्दू राष्ट्रवाद को प्रदर्शित करते प्रतीकों और अनुष्ठानों की भूमिका स्पष्ट थी। इसलिए, 'गोरा' ने एक नई महत्त्वपूर्ण राजनीतिक कल्पना को साकार किया।

19वीं सदी के उत्तरार्ध में कुछ हिन्दू पुनरुत्थानवादी-राष्ट्रवादियों ने भारतीय देशभक्ति को समकालीन हिन्दू सामाजिक संस्थानों के अंतर्गत परिभाषित किया, जो संभवतः पुरातन पद्धति से ज्यों के त्यों लिए गए थे : परिवार, विवाह, जाति और विधवा विवाह व्यवस्था। उन्होंने कहा कि उपनिवेशवाद ने इन संस्थानों और परंपराओं को, जिसे सभी देशभक्त हिन्दुओं की निष्ठा की आवश्यकता है, को नुकसान पहुँचाया है जिससे उनकी महत्ता पर जोर दिया जाने लगा।[3] 'आनंदमठ' का रास्ता अलग था। इसने भारत भूमि और लोगों को मातृभूमि वाली नवीन देवी की छवि में विलीन कर दिया। दैवीय प्राप्ति की लालसा में सभी हिन्दुओं की वफादारी को प्राथमिकता दी गई। वह यह भी अपेक्षा रखती है कि मातृभूमि के प्रति प्रेम की अभिव्यक्ति भारतीय मुसलमानों के खिलाफ हिंसक कृत्य में हो।[4] 'गोरा' इन दोनों संस्करणों को खारिज कर देता है। यह देश को हिन्दू संचालित संस्थान एवं भूमि को देवी के रूप में पहचाने जाने के मूल्यों को अस्वीकार कर देता है। इन दो गतिविधियों की सहायता से, यह हिन्दू राष्ट्रवाद और भारतीय देशभक्ति के बीच के रहस्यमयी अंतर को सामने लाता है एवं सिर्फ देशभक्ति के रास्ते के लिए जगह बनाता है। 1917 में, राष्ट्रवाद शीर्षक से प्रकाशित अंग्रेजी निबंधों के एक संकलन में रवींद्रनाथ ने सिर्फ हिन्दू मतों का बल्कि राष्ट्रवाद की विचारधारा की ही विचारोत्तेजक आलोचना विकसित की।[5] उनके लिए राष्ट्रवाद हमेशा से सत्ता और आत्म-केन्द्रण, बहिष्कार एवं उत्तेजित साम्राज्यवाद की परियोजना मात्र थी। जबकि देशभक्ति या देश के प्रति प्रेम सम्पूर्ण पृथ्वी, भूमि और उसके लोगों के देखभाल, पोषण और प्यार की परियोजना है।

मैं गोरा के शताब्दी वर्ष से एक जुड़ाव-सा महसूस कर रही हूँ, लेकिन केवल स्मृति भाव से नहीं। बल्कि 100 वर्षों बाद भी मैं इसमें अभिव्यक्त मुद्दों एवं रवींद्रनाथ द्वारा गहनता एवं ईमानदारी से उठाये गए प्रश्नों और समस्याओं, जिसकी अभिव्यक्ति राजनीतिक पराधीनता के कारण विशेष रूप से दुष्कर थी, की प्रासंगिकता से हैरत में हूँ। हालाँकि, इस उपन्यास में मुझे सबसे अधिक प्रभावित करती है देशभक्ति की भावना के लिए एक विश्वसनीय और मजबूत नींव को बचा पाने की असफलता। अपने आप में, यह एक बहुत बड़ी विफलता है।

मुझे यहाँ जोड़ना है कि भले ही 'गोरा' में हिन्दू राष्ट्रवाद और भारतीय देशभक्ति जैसे प्रमुख विषय निर्विवाद रूप से केंद्र में है, इसके बावजूद यह उपन्यास एक संकीर्ण राजनीतिक परिभाषा एवं क्षितिज से परे है। इसमें, विभिन्न प्रकार के प्यार : दोस्तो, बहनों, माँ और बेटे, पिता और बेटी के बीच, पुरुष और महिला के बीच का उल्लेख सबसे अधिक है। दरअसल, प्रेम इस उपन्यास का प्रमुख बिंदु है, यही एक सिद्धांत है जो सामाजिक, भावनात्मक और देशभक्ति की समस्याओं को एक साथ व्यक्त करता है। यह एक सकारात्मकता है जो दूसरों से नफरत करने वालों के खिलाफ हिन्दू राष्ट्रवाद को चिन्हित करती है। प्रेम उन्मुक्तता प्रदान करता है, इसे नियंत्रित या थोपा नहीं जा सकता। उल्लेखनीय है कि प्रेम का दायरा सिर्फ देश तक सीमित

नहीं होता। जब तक देशभक्ति हर प्रकार के संबंधों में प्रेम करने की स्वतंत्रता को स्वीकार नहीं करती उपन्यास का सार है तब तक देशभक्ति अधूरी है। देश और लोगों के लिए, जाति बंधन, समुदाय विभाजन, घरेलू दबावों से स्वतंत्रता होनी ही चाहिए। यह दृष्टि भारतीय देशभक्ति के लिए दिवास्वप्न है जहाँ स्वतंत्रता एवं प्रेम अभी भी सिर्फ देश के लिए माने जाते हैं, जबकि कुछ अपवादों के साथ व्यक्तिगत व्यवहार अनुशासनात्मक नियंत्रण में है।

इस प्रकार, गोरा विभिन्न प्रकार की स्वतंत्रता और प्रेम को दर्शाता है। कोई उपन्यास मानवीय सरोकारों के जटिल अंतर्संबंधों को उद्घाटित कर सकता है, इसके विपरीत राजनीतिक विवेचनाओं में उसे असंगत माना जाता है। मेरे आलेख में, दुर्भाग्य से, मैं केवल देशभक्ति के विषय पर ध्यान केंद्रित करूँगी।

1

मुझे भारतीय देशभक्ति में उत्पन्न कुछ बाधाओं का उल्लेख एवं पड़ताल करने दें। पहले शर्त के अनुसार, देशभक्ति के लिए एक ही देश होना चाहिए। यह भूमि विशेष के प्रति प्रेम को दर्शाता है जो देशभक्तों की दृष्टि में, दुनिया के अन्य सभी देशों की तुलना में अधिक सार्थक और मूल्यवान होता है। यह एक विवादास्पद प्रश्न है कि क्यों भूमि विशेष को महत्त्व दिया जाता है और वह भूमि किसका प्रतिनिधित्व करती है। धर्मनिरपेक्ष भारतीय देशभक्त की दृष्टि में, जन्मस्थान के रूप में भूमि, स्व का स्रोत है। हिन्दू राष्ट्रवाद में, सावरकर लिखित, भूमि न केवल लोगों और उनके पूर्वजों बल्कि आस्था की जन्मभूमि होती हैः इसलिए भारतीय मुसलमान और ईसाई पूर्णरूप से भारतीय कहलाने के योग्य नहीं हैं क्योंकि उनकी आस्था का जन्म इस भूमि के बाहर हुआ है।[6]

उस स्थानिक अखंडता को एक स्थायी मानचित्र द्वारा रेखांकित किया जाना चाहिए, जो वृहत् कालखंड में विस्तृत है। देशभक्त और राष्ट्रवादी इस बात पर जोर देते हैं कि वर्तमान में आधुनिक मानचित्र पुरातन काल के लगभग अनुरूप ही है। इस प्रकार यह प्रयास काल और स्थान, भूगोल और इतिहास दोनों पर निर्भर करता हैः देश, जैसा कि हम अभी जानते हैं, पहले से ही रहा होगा। लौकिक-स्थानिक पहचान को सांस्कृतिक रूप से भी सुदृढ़ करना पड़ता है और यह एकरूपता और अभिन्नता के मजबूत सूत्र की पहचान, सम्पूर्ण भूमिविस्तार के माध्यम और इसमें रहनेवाले लोगों के एकरूप पहलुओं की मांग करता है। एकता के दावों में एक वैचारिकता होती हैः यह देश को एक नैसर्गिक जीव के रूप में प्रकट करता है, एक सुस्पष्ट एकल अस्तित्व। शीघ्र ही, तत्पश्चात, देशभक्ति भूमि की राजनीति से बढ़कर विस्तृत हो जाती हैः उस भूमि की संस्कृति की एक निर्धारित परिभाषा उसकी मुख्य पहचान बन जाती है।

देशभक्ति के आवश्यक तत्त्वों की समस्या

दुर्भाग्य से, आधुनिक भारतीयों के लिए, तीनों आवश्यक तत्व - भौगोलिक अखंडता, ऐतिहासिक निरंतरता और सांस्कृतिक एकता—समस्याओं से घिर गए। जब उन्होंने देशभक्ति के बारे में विचार करना शुरू किया, तो उनके सामने ब्रिटिश भारत का नक्शा था, ऐसा नक्शा जो पूरे उपमहाद्वीप में फैला था। इसकी नगण्य संभावना है कि आधुनिकता से पहले भारतीयों की समृद्ध दुनिया में उपमहाद्वीपीय भूगोल की कोई वास्तविक उपस्थिति या स्पष्ट और साझे सम्बन्ध थे। वास्तव में, औपनिवेशिक युग से पहले व्यापक राजनीतिक-प्रशासनिक एकीकृत व्यवस्था का कोई इतिहास नहीं था। और यहां, चीन के सन्दर्भ में विभेद किया जा सकता है, जिसकी

भौगोलिक सीमाएँ, भौतिक विस्तार और विविधताएँ साम्राज्यवादी-नौकरशाही और भाषाई एकता के एक पुराने इतिहास द्वारा प्रतिरूपित होती थी। इसके विपरीत, भारत के अंदर, एक समय में कई साम्राज्य थे। भारतीय राजवंश एक दूसरे के खिलाफ लड़े, विजय प्राप्त की और एक दूसरे पर शासन किया। किसी भी समय, ब्रिटिश आक्रमण से पहले, भारत का आधुनिक मानचित्र एक सीमा के भीतर नहीं था।

सांझा सांस्कृतिक लक्षण राजनीतिक-प्रशासनिक विभाजन को खत्म कर सकते थे। लेकिन वे बहुत कम थे। शास्त्रीय भाषा संस्कृत के अलावा, परवर्ती काल में फारसी, कोई एक भाषा नहीं थी जिसे देश के विभिन्न हिस्सों के लोग समझते या उपयोग करते। संस्कृत और फारसी भी, कुलीन भाषाएँ थीं, जिनका उपयोग अभिजात्य लोगों के समूहों द्वारा उच्च साहित्यिक, पवित्र या नौकरशाही जरूरतों के लिए किया जाता था। दूसरी ओर, जीवित/आम बोलचाल की अनेक भाषाई परम्पराएँ थीं और ज्यादातर पारस्परिक स्तर पर समझ से परे थीं। यही स्थिति सांस्कृतिक परंपराओं और पूजा शैलियों की, जो एक दूसरे से न केवल मौलिक रूप से भिन्न थीं—विभिन्न धार्मिक समुदायों के बीच, बल्कि अक्सर एक ही समुदाय के विभिन्न घटकों में भी भिन्नता थी। निःसंदेह, अतीत में निरंतर संपर्क के बिंदु थे : प्राचीन काल से एक तीर्थयात्रा का प्रचलन था, जो देश के कई अलग-अलग हिस्सों को जोड़ता था। लेकिन तीर्थ यात्राएँ समुदाय या संप्रदाय विशेष होती थीं, विस्तृत क्षेत्र में रहनेवाले लोगों को जोड़ने के लिए कोई सामान्य बिंदु नहीं थे। वस्तुओं और व्यापारियों का व्यापक प्रसार भी हुआ। लेकिन व्यापार की सामग्रियों एवं लोगों के आवागमन समूह विशेष के लोगों के लिए सीमित होते थे। अधिकांश लोगों के बीच न तो कोई परिचय होते थे और न ही देश के विभिन्न हिस्सों के साथ एक मजबूत भावनात्मक बंधन। उनके लिए उपमहाद्वीप कोई अपना प्यारा देश नहीं था, जिनके सभी भागों के बीच किसी प्रकार का अंतरंग संबंध था।

आधुनिक समय से पूर्व, लोकप्रिय राजनीतिक निष्ठा भूमि और लोगों के बजाय संप्रभु और उसके दायरे के प्रति होने की अपेक्षा की जाती। रामराज्य शब्द इसका एक अच्छा उदाहरण होगा। परिचित और प्रेमपूर्ण अंतरंगता की भावनाएँ जिन्हें हम देशभक्ति की विशिष्ट विशेषताओं के रूप में संबद्ध करते हैं, वास्तव में छोटे और अंतरंग सन्दर्भों को सूचित करते थे। रामायण ने घोषणा की थी कि माता और जन्मस्थान स्वर्ग से श्रेष्ठ हैं। इस मामले में, जन्म स्थान का शाब्दिक रूप होगा वह पैतृक घर जहाँ वह पैदा हुआ था। व्यक्तिगत इतिहास, संपत्ति और स्थान से जुड़ाव कुछ ऐसे तत्व थे, जो किसी भूमि के अंश पर उचित दावा स्थापित करते थे। इन घनिष्ठताओं की अनुभूति की अभिव्यक्ति देश, संस्कृत मूल का एक शब्द, से होती थी, जो कई भारतीय भाषाओं में भी इस्तेमाल होता है, और फ़ारसी के शब्द मुल्क, जो देश के लिए दूसरा शब्द है, से भी अवगत कराया गया था।[7] मूल रूप से, दोनों का अर्थ मात्र व्यक्तिगत पता था। जब एक उपमहाद्वीप को बड़े पैमाने पर बहुत प्रयास के बाद पुनः खींचा गया, जिसकी केवल कल्पना की जा सकती है, तो दोनों ने श्रेष्ठ अर्थ धारण कर लिए। स्वामी विवेकानंद और बाद में गाँधी जैसे आधुनिक देशभक्तों की विशेषताओं में से एक था—देशव्यापी दौरा करना। वास्तविक अर्थ में एक भारतीय होने की दिशा में पहला कदम। स्पष्ट है, एक भारतीय होने के लिए यह प्रयास जरूरी था। यह ज्ञानार्जन था, आंतरिक गुण नहीं।

19वीं सदी में, अखिल भारतीय या उपमहाद्वीपीय देशभक्ति के साथ-साथ एक क्षेत्रीय देशभक्ति का भी उभार हुआ। वास्तव में, इससे देश के पूर्ववर्ती अर्थों, एक चिर परिचित भूमि और लोग, हमेशा एक भाषा के सूत्र में पिरोये हुए, को कहीं अधिक सफलतापूर्वक स्वीकृति मिली।

निश्चित ही, 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से बंगाल में देशभक्ति गीतों से बंगाल के लोगों और भूमि के प्रति अधिक प्रेम की अभिव्यक्ति हुई। इसके विपरीत, बंगाली देशभक्ति की कल्पना में भारत शक्ति और महिमामंडन की एक परियोजना के रूप में दिखाई दिया, प्रेम के अंतरंग प्रतिरूप से कहीं अलग। हम यहाँ स्वयं रवींद्रनाथ के दो देशभक्ति गीतों में अंतर ढूँढ सकते हैं। एक में वह भारत की प्राचीन भूमि को मानव सभ्यता के पालने के रूप में उद्घाटित करते है : "... इन्हीं आसमानों पर पहले सुबह की किरणें दिखाई दीं, यहीं पहले पवित्र मंत्रों के उच्चारण हुए/ इन्हीं वनों से सबसे पहले हुआ दुनिया में विश्वास और ज्ञान का प्रसार कविता और कथाओं के साथ..." यह सभ्यता निःसंदेह हिन्दू है—ऐसी समस्या जिसकी चर्चा मैं बाद में करुँगी। दूसरा गीत बंगाल की भूमि के बारे में है जिसे बांग्लादेश के राष्ट्र गीत के रूप में अपनाया गया है :

मेरा सुनहरा बंगाल, मैं तुमसे बहुत प्यार करता हूँ/हमेशा और हमेशा के लिए, तुम्हारा आसमान, तुम्हारी हवाएँ, मेरी आत्मा में संगीत पैदा करती हैं। माँ, वसंत में तुम्हारे आम के गुच्छे मुझे उनकी खुशबू से मंत्रमुग्ध कर देते हैं। देर से शरद ऋतु तुम्हारे धान के खेत को मधुर मुस्कान देती है... (आलेख में सभी अनुवाद मेरा है)।

यह गीत एक परिचित परिदृश्य को दर्शाता है, सुंदरता से प्रेम इसकी खासियत है।[8]

जहाँ एक तरफ किसी क्षेत्र के बारे में स्थानिक कल्पना स्पष्ट और भावनात्मक थी, तो इसके विपरीत, उपमहाद्वीप, को परिचित भूमि की जगह इतिहास का रूप दे दिया गया। बाद में जब औपनिवेशिक काल में एक मजबूत मानचित्र कला की कल्पना उभरी, तो यह मानचित्र के बाहरी आकृति की अस्पष्ट, लगभग स्त्री छवि वाली जिसे जनमानस का लोकप्रिय प्रतिनिधि बनाया गया। भारत को मजबूत, भावनात्मक भूगोल के बजाय एक आदर्श राष्ट्र के रूप में स्थापित कर दिया गया।[9]

अवांछित निर्माण/उत्पाद

हालाँकि, चीजें बदल जाती हैं। 1888 में जॉन स्ट्रेची, एक वरिष्ठ औपनिवेशिक अधिकारी, ने अपने एक भाषण में कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के स्नातक के विद्यार्थियों को आश्वासन दियाः

''भारत जैसी चीज कुछ नहीं है, न कभी थी... कोई भारत राष्ट्र नहीं, कोई भारतीय नहीं। जिसके बारे में हम इतना सुनते हैं, कि पंजाब, बंगाल, उत्तर पश्चिम प्रांत और मद्रास के लोग सब मिलकर भारतीय हैं, उन लोगों को कभी भी अनुभव करना चाहिए कि वे एक भारतीय राष्ट्र के नहीं हैं...।[10]

इसे प्रसिद्ध अंतिम शब्दों के एक उल्लेखनीय उदाहरण के रूप में पेश किया जा सकता है। यहाँ तक उसने जिस पर बोला, जिसके अस्तित्व को वह खुद भी नकारता रहा, का निर्माण पहले ही शुरू हो चुका था, बल्कि उसी प्रशासन के माध्यम से यह जीवन में प्रवेश करता रहा जिसका वह खुद एक हिस्सा था। भारतीय साम्राज्य, जिसका उभार धूमधाम से एक दशक पहले ही हुआ था, बहुत तेजी से भारतीय लोगों के एक राष्ट्र के रूप में विकसित हो रहा था, इस विश्वास के साथ कि वे सभी लोग एक ही देश के हैं। यह एक आधुनिक शुरुआत थी जिसमें विश्वास कहीं से भी कम होने की बात ही नहीं थी। इतिहास, आखिरकार, नियति पर आश्रित नहीं होता है।

भारतीय देशभक्ति, एक अनुभूति के रूप में, औपनिवेशिक शासन का अवांछित उत्पाद था जिससे राजनीतिक एकता एवं और बिखरे भूगोल को एकसूत्र में बाँधा जा सके। इसके अलावे, बड़े पैमाने पर समान नस्लीय, आर्थिक और प्रशासनिक नीतियों के माध्यम से, एक

उपमहाद्वीप के आस-पास बिखरे लोगों के बीच समरूप शिकायतों, आकांक्षाओं और भावनाओं को उभारा जा सके। अंततः, यह औपनिवेशिक-जनविरोधी लोकप्रिय आंदोलन था जिसने लोगों की बहुत बड़ी संख्या को एक मजबूत, समृद्ध समुदाय में बदल दिया जाय। फलस्वरूप, विकसित होनेवाला उपमहाद्वीपीय जुड़ाव शक्तिशाली, वास्तविक एवं व्यक्तिगत था। हालाँकि, उत्तर-औपनिवेशिक युग में भी, एक अपेक्षानुकूल विकास के बावजूद, भारतीयों की बड़ी संख्या में इसके प्रति प्रतिबद्धता है। कोई यहाँ तक भी कह सकता है कि यह देशभक्ति ही थी जिससे एक देश के रूप में भारत उभरा। लेकिन समस्या यह थी कि इस शुरुआत को सामान्यतः पर्याप्त नहीं माना जाता हैः यह बहुत नया और आकस्मिक है, न कि जैविक, न कि संरचनात्मक आवश्यकता या दीर्घकालीन ऐतिहासिक दबाव। इसलिए, यह आवश्यक हो गया कि उभरते हुए देशभक्ति को न्यायोचित ठहराने और प्रसार के लिए, अधिक स्थायी और जन्मजात आधारों की कल्पना करने के लिए, 'दूसरों' नामक श्रेणी की कल्पना की जाए।

2

देश की खोज में मजबूत देशभक्ति की भावनाएँ। इसका अर्थ था औपनिवेशिक एकीकरण के अपेक्षाकृत हाल के इतिहास एवं स्वतंत्रता आंदोलनों से उपजी भावनाओं से परे भारत नामक एक देश की खोज। भारत की प्रस्तुति में स्थायित्व होना चाहिए न कि किसी विशेष ऐतिहासिक परंपरा का आकस्मिक परिणाम। लेकिन क्या हम अपने इतिहास में कुछ ऐसा ढूँढ सकते हैं जो एक उपमहाद्वीपीय एकता और ऐतिहासिक निरंतरता के लिए प्रेरक के रूप में काफी पुराना, मजबूत एवं पर्याप्त सामान्यीकृत करनेवाला हो?

आधुनिक हिन्दुओं की बड़ी संख्या के लिए, जो एक देश और उसके इतिहास को परिभाषित करने की समस्या में लगे हुए थे, सरल और स्पष्ट उत्तर था जिसे 19 वीं शताब्दी से ही तैयार और सजाया गया था। उनके लिए, हिन्दू धर्म ही उसकी आवश्यकता को पूरा करने के लिए पर्याप्त था। हिन्दुओं की संख्या, जैसा कि उनका दावा था, भारतीय लोगों में सबसे अधिक है और उनका अस्तित्व अकेले एक अखंड ऐतिहासिक निरंतरता का प्रमाण है जो अन्य भारतीय समुदायों की तुलना में कहीं अधिक पुराना है। पुरातनता के ऐसी दावों का प्रमुख खतरा यह है कि देश में बहुत प्राचीन एवं घने आबादी वाले गैर-हिन्दू समुदाय हैं जिनका सांस्कृतिक, राजनीतिक परंपराओं एवं विविधताओं को समृद्ध करने में बहुत बड़ा योगदान है। भारत को हिन्दू बनाने के लिए न केवल उन महत्त्वपूर्ण जनसमूहों को बाहर करना होगा—हमारे जीवन, संस्कृतियों और इतिहासों को पंगु बनाने की कीमत पर—बल्कि अपने वास्तविक पैतृक घर एवं हक़ के लिए संघर्षरत भारतीयों की विशाल संख्या को भी छोड़ना होगा। इसके अलावा, हिन्दू जाति, क्षेत्र, भाषा और सम्प्रदाय में स्वयं विभाजित हैं। एक प्रथा जो उनमें से अधिकांश को एक साथ लाती है वह जातियों के पदानुक्रम का प्रकार। इसके अलावा, ऊपरी या सवर्ण जाति के तौर तरीके जिसे "निम्न जातियों" द्वारा अनुसरण करना पड़ता था। हालाँकि, 19 वीं सदी से हिन्दुओं के बड़ी संख्या में ऐसी सामान्यताएँ जाँच का विषय बन गईं। वे शायद ही सभी आधुनिक हिन्दुओं के बीच एकता का भाव स्थापित कर सकें, सभी भारतीयों के बीच एकता की तो बात ही दूर है।

शास्त्र और रीति-रिवाज

19वीं सदी के हिन्दू पुनरुत्थानवादियों ने प्राचीन ब्राह्मण ग्रंथों में हिन्दू-भारतीयों के लिए सबसे

अधिक सांस्कृतिक निरंतरता और विलक्षण सभ्यता को समाहित बताया है, जिनमें पौराणिक, दार्शनिक और तत्वमीमांसक प्रणालियाँ, कानूनी विधियाँ और शास्त्रीय संस्कृत साहित्य शामिल हैं। ये 19 वीं शताब्दी के भारतविदों, भारतीय और पश्चिमी विद्वानों द्वारा संकलित एवं प्रकाशित किए गए थे और जिसे अंतरराष्ट्रीय स्तर पर प्रसिद्धि मिली। दरअसल, औपनिवेशिक साम्राज्य ने ही इसके कुछ हिस्सों को प्रचारित किया एवं पहचान दिलाई। उन्होंने घोषित किया कि विश्वास, अनुष्ठान, विवाह, तलाक, विध्वंस, गोद लेने, उत्तराधिकार, संपत्ति और जाति के सभी क्षेत्रों में, हिन्दू और मुस्लिम अपने धर्मग्रंथ और रिवाज से ही शासित होंगे और राज्य केवल तब हस्तक्षेप कर सकते हैं जब यह दिखाया जाये कि वर्तमान पद्धतियों से अधिक प्राचीन एवं पुरातन परंपरा का उल्लंघन हो रहा हो। निःसंदेह, उनके निर्णय का एक हिस्सा समीचीन राजनीति के गणित से संचालित होता था। उन्होंने सोचा अंतरंग और निजी क्षेत्रों में स्वतंत्रता पराधीन लोगों को संभालेंगे और शांत करेंगे। लेकिन रीति-रिवाज, विधियों और परंपराओं के क्षेत्र में उनका काम वास्तव में प्रशंसनीय भी था। जब अनेक शास्त्रीय परंपराओं की सहायता से, जिसमें हिन्दू मतों एवं कर्मकांडों का उल्लेख था, एक संकलन बनाया गया था, तो महान उपयोगितावादी बेंथम ने इसका अनुवाद पढ़ा और निर्णय लिया कि इन पहलुओं को सार्वभौमिक कानूनी संहिता (यूनिवर्सल लीगल कोड) में शामिल किया जाना चाहिए जिसके लिखने की योजना उसने बनाई थी।[11]

इन मान्यताओं और प्रथाओं ने एक ऐसे क्षेत्र का गठन किया जहाँ औपनिवेशिक राज्य ने स्वयं अपनी संप्रभुता का हनन कर दिया। दूसरे अर्थ में, इसका तात्पर्य था कि इस क्षेत्र में भारतीय अभी भी पूरी तरह औपनिवेशिक नहीं थे। इस प्रकार हिन्दू धर्मग्रंथ और रीति-रिवाज अतीत की आजादी के अनमोल धरोहर और भविष्य के स्वशासन के बीज के रूप समझे गए। 19 वीं शताब्दी के दौरान, उदारवादी सुधारकों और हिन्दू रूढ़िवादियों ने इस स्वतंत्रता के प्रयोजन को लेकर लड़ेरू क्या यह विशेष रूप से जाति और लिंग के लिए आत्मनिरीक्षण और आत्म-सुधार का स्रोत होना चाहिए? या इसे परंपरा को सुदृढ़ करना चाहिए, जो सभी भ्रष्टाचारों एवं विदेश प्रभाव से मुक्त हो? क्या इसे पूरी तरह से उसी रूप में श्रद्धांजलि देनी चाहिए, जिसने देश को बनाया है, या किसी को सामाजिक और लैंगिक न्याय की तर्ज पर देश का पुनर्निर्माण करना चाहिए?

रूढ़िवादी सांसद एडमंड बर्क के विचारों से जुड़ते हुए, लेकिन जो वास्तव में उत्तर मध्ययुगीन अंग्रेजी लेखन से सम्बंधित हैं, विशेषकर फोर्टेस्क्यू, भारतीय रूढ़िवादियों ने रचनात्मक रूप से पश्चिमी रूढ़िवाद के कुछ क्षेत्रों को अपना लिया है। उनकी दलीलें इस प्रकार थीं—यदि कुछ संस्थाएँ और परंपराएँ युगों से चली आ रही थीं, जिसमें विजय और विदेशी वर्चस्व शामिल हैं, तो उनकी चीज़ें स्वतः अच्छी थीं। यहाँ तक कि विदेशी आक्रमणकारियों ने भी उन्हें परेशान नहीं किया था, इन दोनों रूपों से यह साबित होता है। भले ही उनके तर्क या नैतिक गुण स्पष्ट नहीं हैं, उनकी ऐतिहासिक निरंतरता और दृढ़ता आधुनिक समय में उनकी प्रासंगिकता और उपयोगिता को प्रदर्शित करती है। सुधारक उन्हें अपने समकालीन क्षणभंगुर कारणों के आधार पर मूल्यांकन नहीं कर सकते जो सिर्फ एक पीढ़ी के सोच का परिणाम है, जबकि सदियों से प्रचलित कानूनों और रीति-रिवाजों में पिछली पीढ़ियों का ज्ञान होता है। वे एक बहुत प्राचीन ऐतिहासिक व्यवस्था पर आश्रित हैं।[12] अपने तरीके से, इस दलील ने उसी अर्थ की पुष्टि की जिसे पोकॉक दूसरे अर्थ में मृतकों का लोकतंत्र कहते हैं।[13]

तर्क का दूसरा छोर था क्या जाति और लिंग जैसी स्पष्ट रूप से आपत्तिजनक प्रथाएँ

पश्चिम में नहीं हैं जिसे बहुत महान और सभ्य समझा जाता है? हमारा गहन और जटिल दार्शनिक तंत्र, हमारा अद्भुत शास्त्रीय साहित्य? यदि हम उनसे अब सवाल करते हैं, तो क्या हम पूरी परंपरा, स्पष्ट रूप से महान और अच्छे, को महज कुछ समस्याग्रस्त तत्त्वों से जोड़कर नहीं नकारते हैं?

औपनिवेशिक काल में, उपन्यास, नाटक, ट्रैक्ट, वैचारिक निबंधों में, बार-बार दोहराए जाने वाले लगातार आने वाले जो आग्रहपूर्ण तर्क थे उनमें से कुछ जो उत्तर-औपनिवेशिक ज्ञान के परिप्रेक्ष्य में संशोधित और पुर्नव्यवस्थित कर पुनर्जीवित भी किए गए हैं। वे गोरा में बार बार आते हैं, जिसे हम उनकी सबसे सशक्त एवं मार्मिक अभिव्यक्तियों के साथ-साथ उनके सबसे प्रभावशाली नकार के रूप में भी देख सकते हैं।

यदि सभी देशभक्तिपूर्ण परियोजनाएँ निष्ठा की माँग करती हैं, तो एक उपनिवेशित लोगों की देशभक्ति निष्ठा के साथ-साथ भय, शक्ति एवं मार्मिकता से भी जुड़ती है। यदि सुधारों की अनुमति दी जाती है, तो क्या वे उन अहंकारों पर प्रहार नहीं करेंगे, अपनी गलतियों एवं अन्याय को स्वीकार नहीं करेंगे? यदि पतन को स्वीकार किया जाता है, तो देशभक्ति आत्मसम्मान के सवाल का सामना कैसे कर सकती है जो पहले से ही औपनिवेशिक नस्लवाद से इतना क्षतिग्रस्त है? और, अंततः, अगर परंपराएँ जो निम्न जातियों और महिलाओं के लिए इतनी अन्यायपूर्ण साबित हुईं, देशभक्ति के लिए पर्याप्त आधार नहीं है, तो हिन्दू या भारतीय इतिहास का विकल्प क्या होगा?[14] इस अर्थ में गोरा एक वैकल्पिक रास्ता दिखाता है।

3

इस हिन्दू राष्ट्रवादी तर्क के लिए 'आनंदमठ' ने एक और मोड़ दिया। इसने एक सामाजिक अन्याय और विभाजन की शॉर्ट सर्किट समस्याओं के लिए राष्ट्रवादी युद्ध को हल बताया। स्व-विभाजित हिन्दू लोग सब एक हो गए जब उन्होंने उपन्यास में उल्लिखित ऐतिहासिक दुश्मन, मुसलमानों, का सामना किया। सम्प्रदाय एवं देश एक देवी, एक ऐसी देवी जो मुसलमानों से प्रतिशोध ले, के निर्माण के लिए एक हो गए। निम्न एवं उच्च जातियाँ, दुश्मनों के शासनकाल तक, आपस में लड़ती रहीं, जाति को निलंबित कर दिया जाना चाहिए—भले ही, हमेशा के लिए नहीं, पर सारे नेता थे तो उच्च जाति के ही।

टैगोर और स्वदेशी आंदोलन

'आनंदमठ' के हिंसक तर्क ने विखंडन और अनियमितताओं की समस्याओं को इस तरह से सुलझाया जो सुसंगत और तर्कपूर्ण। हालाँकि, यह ऐसा हल था जिससे रवींद्रनाथ को गहरा डर था। बंकिमचंद्र ने हिन्दू राष्ट्रवाद तक पहुँचने के लिए वर्ग, जाति और लिंग आधारित भेदभाव सम्बन्धी अपनी ही मान्यताओं को दरकिनार कर दिया। रवींद्रनाथ भी, बंकिमचंद्र की तरह सामाजिक और राजनीतिक सोच के विभिन्न चरणों से गुजर चुके थे।[15] हालाँकि, उनके मामले में परिस्थिति बदल चुकी थी। उनके गोरा लिखने से ठीक पहले, 1905 और 1908 के बीच, देश ने औपनिवेशिक राज्य के खिलाफ एक व्यापक लोकप्रिय आंदोलन देखा था, जिसके कारण हाल ही में मनमाने ढंग से बंगाल प्रांत का विभाजन हुआ था। ब्रिटिश कपड़ों का बहिष्कार और जलाया जाना, उन भारतीयों का सामाजिक बहिष्कार जो अंग्रेज़ी सरकार में बड़े पदों पर काबिज थे या राज्य के प्रति वफादार थे, विशाल प्रदर्शन और विदेशी सामग्रियों वाले दुकानों के सामने प्रदर्शन हो चुके थे। अंततः, ब्रिटिशों की हत्याएँ शुरू हो गईं।

आंदोलन के शुरुआती चरण में रवींद्रनाथ गहराई से जुड़े थे और उन्होंने कई सांस्कृतिक संकेतों और प्रतीकों का सृजन किया। उन्होंने इस समय, अन्य राष्ट्रवादी नेताओं के साथ बड़े पैमाने पर लोगों को इकठ्ठा करने के लिए हिन्दू अनुष्ठानों का इस्तेमाल किया, और हिन्दू सामाजिक प्रथाओं और विधानों का बचाव किया, यहाँ तक कि सामाजिक सद्भाव के संरक्षण के लिए जाति व्यवस्था को तर्कसंगत एवं श्रम आधारित बताया। उसी तर्ज पर, उन्होंने ब्राह्मणवादी लैंगिक प्रथाओं के समर्थन में विधवा आत्मदाह को रिवाज बताया।[16] 1904 में, उन्होंने स्वदेशी समाज में लिखा–

''क्या हिन्दू धर्म दिन-प्रतिदिन हममें से हर एक को, हमारे भारतवर्ष, हमारे देवताओं का स्वर्ग, ऋषियों का तीर्थ, पूर्वजों की भूमि के प्रति साहचर्य एवं समर्पण के बंधन में नहीं बाँध सकेगा?"[17]

गोरा में इन विषयों और शब्दों की इतनी अधिक पुनरावृत्ति है कि यह निर्विवाद लगता है कि रवींद्रनाथ ने स्वदेशी युग के मद्देनज़र उपन्यास में प्रारंभिक गोरा की देशभक्ति की भाषा का उदाहरण पेश किया। इसलिए, दूसरे अर्थ में यह उपन्यास आत्मकथात्मक है। पूर्ववर्ती एवं परवर्ती गोरा रवींद्रनाथ के जीवन के दो विभिन्न राजनीतिक क्षणों को दिखाते हैं।

हालाँकि, इस दौर में भी रवींद्रनाथ कई अन्य महत्त्वपूर्ण कारणों से, दूसरे हिन्दू राष्ट्रवादियों से बिल्कुल अलग बने रहे। स्वदेशी आन्दोलन से उनके मतभेद बढ़ते गए, इतना कि वे उसके सबसे मुखर आलोचक बन गए। उन्होंने मुसलमानों को समानता की दृष्टि से देखा।[18] हिंसा ने उन्हें भयाक्रांत कर दिया, चाहे वह राज्य के अधिकारियों के खिलाफ हो या मुसलमानों के। वे अडिग थे कि भारतीय सभ्यता हमेशा कई संस्कृतियों द्वारा पोषित हुई है। उनमें से कुछ प्रारंभ में विदेशी आक्रमणकारियों के रूप में पहुँचे, लेकिन बाद में वे यहीं के होकर रह गए। इसमें पश्चिम भी शामिल था जिसके बौद्धिक और सांस्कृतिक संसाधनों को औपनिवेशिक युग में भी घातक सांस्कृतिक आत्मसमर्पण के बिना नहीं ठुकराया जा सकता है।[19] आखिरकार, वह ग्रामीण उत्थान, किसान कल्याण को महत्त्व देते थे, क्योंकि किसानों की बारहमासी गरीबी और अज्ञानता के कारणों को गंभीरता से समझते थे कि इसमें जितने दोषी औपनिवेशिक राजस्व वसूली है उतना ही भारतीय जमींदार भी। जैसे-जैसे आंदोलन तेज हुआ, वे उच्च वर्ग और उच्च जाति के हिन्दू राष्ट्रवादी नेतृत्व के कटु आलोचक हो गए, जिसने निम्न जातियों एवं मुस्लिम किसानों को मिलने वाले सस्ते विदेशी कपड़े जलाने की मुहिम तो चलाई लेकिन उनके कल्याण के लिए बहुत कम या कुछ भी नहीं किया।[20]

स्वदेशी आंदोलन के दौरान, निम्न जातियों और मुसलमानों ने विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का विरोध किया था जिससे यह हिंसक सांप्रदायिक झड़पों में बदल गया। उस समय, रवींद्रनाथ पूरी तरह आंदोलन से दूर हो गए। उन्होंने अपने सामाजिक और राजनीतिक धारणाओं की समीक्षा की और निष्कर्ष निकाला कि अस्पृश्यता और सांप्रदायिकता औपनिवेशिक अन्याय की तुलना में कहीं भी कम महत्त्वपूर्ण समस्या नहीं थीः जब तक किसानों में गरीबी और शोषण की समस्या है, कुलीन राष्ट्रवादी नेतृत्व को ग्रामीणों को उनके आंदोलन में हिस्सा लेने के लिए दबाव बनाने का कोई अधिकार नहीं था।[21]

गोरा : नई राजनीतिक परिवर्तन की अभिव्यक्ति

'गोरा' नई राजनीतिक परिवर्तन की पहली साहित्यिक अभिव्यक्ति थी, जो समय के साथ गंभीर होता गया। यह आधुनिक स्वदेशी, राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितयों पर लिखे गए उपन्यासों

में से एक था, 'चोखेर बालि' और 'नौकाडुबि' उनमें प्रथम थे। अपने पूर्ववर्तियों की तुलना में, गोरा अनेकों सामाजिक दुनिया में विचरता है, जहाँ बार-बार अंतर्संवाद, टकराव और सुलह होता है। 'चोखेर बालि' की तुलना में यह अधिक गंभीर है, जहाँ अनेक क्लिष्ट कहानियाँ, अभिव्यक्तियाँ, संवाद एवं सांस्कृतिक संकेत मिलते हैं—उदारवादी, रूढ़िवादी और पुनरुत्थानवादी पृष्ठभूमि के पुरुष और महिलाएँ, औपनिवेशिक, ग्रामीण और महानगरीय स्थानों, आधुनिक परमाणु परिवारों से लेकर बड़े पैमाने पर संयुक्त परिवारों तक के परस्पर संबंधों तक। अभिजात्य एवं शास्त्रीय भाषा, हालाँकि विविध स्थानीय भाषा के शब्दावलियों से इसके मिजाज़ में बिखराव भी है।

एक काफी यांत्रिक समरूपता के साथ, उपन्यास एक अच्छे और एक बुरे ब्राह्मण को अपने समकक्ष एक अच्छे और बुरे हिन्दू को रखकर प्रतिरोध करता हैः परेश और हारान ऐसे ही दो ब्राह्मण चेहरे हैं, जबकि आनंदमयी और कृष्णदयाल दो अलग हिंदू हैं। ये दोनों, आपस में, वर्तमान में आस्था की शक्ति और समस्याओं को दिखाते हैं। उपन्यास के केंद्र में संवाद है और प्रत्येक प्रसंग में पर्याप्त आत्म-प्रतिनिधित्व तथा अलंकारिक शैली का वैविध्य दीखता है। इसके बहुभाषी और संवाद संगठन में, साथ ही साथ इसके अनेक तर्कों में, बाद में प्रकाशित घोरे बाइरे, स्वदेशी अनुभव पर आधारित उपन्यास की झलक है। यह रोचक है कि भले ही गोरा स्वदेशी के अनुभव के तुरंत बाद लिखा गया, लेकिन इसकी पृष्ठभूमि के लिए 19 वीं शताब्दी ही लिया गया। लगभग एक दशक बाद लिखा गया 'घोरे बाइरे', स्वदेशी युग को ही दर्शाता है। शायद, रवींद्रनाथ ने उस वक्त तक इंतजार किया जब तक बंगाल के अति घृणित विभाजन रद्द नहीं हो गया, अर्थात उनके विभाजन-विरोधी आंदोलन की आलोचना स्पष्ट करते। अनुभव के निकटवर्ती समय में, उन्होंने अपनी तात्कालिक प्रतिक्रिया को रोका और अतीत में जाकर में समस्याग्रस्त पहलुओं को ढूँढा।

यद्यपि 'गोरा' में अनेक अंतर्दृष्टि हैं जो आन्दोलन में जुड़ने के कारण विकसित हुए थे, उन्होंने अपनी पटकथा के लिए 1870 का दशक लिया, जब एक रूढ़िवादी हिन्दू राष्ट्रवाद ने हिन्दुओं की सांस्कृतिक विशिष्टता के नाम पर उदारवादी सोच और सामाजिक सुधार का कड़ा विरोध किया।[22] गोरा एक शिक्षित, रूढ़िवादी ब्राह्मण परिवार से एक देशभक्त नौजवान है, जो अपने देशभक्ति दृष्टि, जुनून और औपनिवेशिक जातिवाद के खिलाफ अटूट और निडर विरोध के कारण अपने दोस्तों और परिवार से श्रेष्ठ समझा जाता है। वह भारतीयों, मुस्लिमों और अछूत समेत सभी से प्रेम करता है, लेकिन वह उदारवादी सुधारकों को बर्दाश्त नहीं कर सकता। वे उसके लिए सांस्कृतिक पाखण्डी हैं, अपने औपनिवेशिक मालिकों के मानने वाले हैं, सुधार के नाम पर हमेशा उन चीज़ों को नष्ट करने की कोशिश करते हैं जिनकी न तो समझ है और न ही सहानुभूति। उनसे अंतर बनाए रखने के लिए, अपने व्यवहार में, विशेष रूप से लिंग और जाति प्रदूषण के क्षेत्रों में, सभी रूढ़िवादी रूपों को मानता है। वह अपनी माँ, जिसे वह दिल से प्यार करता है, द्वारा पकाया गया खाना नहीं खाता क्योंकि वह एक निम्न जाति की घरेलू नौकरानी, लछमिया के हाथ से पानी लेती है।

बंगाली साहित्यिक इतिहासकारों द्वारा कहा गया है कि स्वामी विवेकानंद पात्र गोरा का उदाहरण पेश करते हैं। इसमें कुछ सच्चाई है, हालांकि मुझे लगता है कि दो अलग-अलग समय में रवींद्रनाथ के पात्र गोरा के दो क्रमों को सही अर्थों में प्रस्तुत करते हैं। विवेकानंद और गोरा दोनों ने उच्च जाति के सामाजिक कल्याण कार्यों द्वारा निम्न जाति की स्थितियों में सुधार की कोशिश की, दोनों ने एक शक्तिशाली देशभक्तिपूर्ण गद्य विकसित किया, दोनों ने मध्यम वर्ग

के हिन्दू युवाओं को हिन्दू मिशनरी समूह निर्माण के लिए संगठित किया और दोनों ने देशभक्ति के तुलना हिन्दू राष्ट्र से की। फिर भी, उनमें एक और साझा विशेषता हो सकती है। गोरा को हिन्दू गौरव को बढ़ाने के लिए हिन्दू सामाजिक संस्थाओं पर से अपने संदेह को लगातार दबाना पड़ता है। सुमित सरकार का तर्क है कि जहाँ एक तरफ विवेकानंद के निजी बयानों और पत्राचारों के बीच अंतर था, जहाँ एक तरफ उन्होंने हिन्दू रीति-रिवाजों पर अपनी तीखी प्रतिक्रिया दी, और दूसरी तरफ उनके सार्वजनिक भाषण और लेखन, जिसमें उन्होंने खुद को विशेष रूप से समृद्ध हिन्दू सभ्यता से जोड़कर रखा। हिन्दू मिशनरी परियोजना के दौरान आत्मविश्वास और निराशा के भी अस्थिर क्षण थे।[23]

गोरा के कई प्रतिरूप हैं। उनकी माँ आनंदमोई मुख्यतः एक दूरदृष्टि वाली व्यक्ति हैं जो मनुष्य को मनुष्य से अलग करने वाली किसी भी रस्म को मानने से इनकार कर देती हैं। जन्म या विश्वास के कारण वह किसी का तिरस्कार नहीं कर सकती और उसका सहज और अगाध प्रेम सभी मनुष्यों के लिए है। गोरा एक उदारवादी सुधारक परिवार के संपर्क में आता है, सहृदय एवं सुचिंतित पिता, परेश से तर्क करता है, और उसे उनकी दत्तक पुत्री सुचरिता से प्रेम हो जाता है, ठीक वैसे ही जैसे उसका दोस्त और शिष्य बिनय सुचरिता की दत्तक बहन ललिता से प्रेम करता है। उनके संवाद में दिलचस्प मोड़ आते हैं। आनंदमयी सार्वभौमिक मानवीय प्रेम और मूल्यों के साथ बड़ी भावनात्मक गहराई के साथ अपनी बात रखती है। परेश धीरे-धीरे लेकिन तार्किक रूप से नपे-तुले बौद्धिक स्वर में बोलते हैं। ललिता, जो बाद में गोरा के दोस्त बिनय से शादी करती है, अपने पिता की तार्किकता को एक तीखी बहस में ढाल देती है। गोरा, शांतिपूर्ण तर्क एवं प्रेम के कोमल भावों से निर्मित प्रभाव को कम करने के लिए उत्तेजक एवं अतिशयोक्तिपूर्ण रूपकों एवं उपमाओं की भाषा में बोलता हैं। सुचरिता अपने पिता और गोरा के बीच उलझी रहती है, जो बिनय भी करता है। उसकी बुद्धि सामाजिक और ऐतिहासिक तर्कों, जिसे परेश लाते हैं को गोरा के हिन्दू राष्ट्रवाद के प्रतिउत्तर में इकट्ठा करती है। उसी समय, गोरा ऐसे स्मृति संवाद, देश दृष्टि और शक्ति से प्रेम करने लगता है, जिससे सुचरिता मुग्ध हैः उसके लिए, देश पूरी तरह से उसके प्रिय के शब्दों का प्रभाव है। एक ही समय में, वह दोनों से प्रेम करती है, जब गोरा पहली बार, ओथेलो की तरह, उसके शब्दों के प्रभावशाली चमत्कार की तरफ मुड़ता है।

हिन्दू राष्ट्रवाद की ऊर्जा का स्रोत

रवींद्रनाथ ने हिन्दू राष्ट्रवाद की शक्ति के एक बहुत महत्त्वपूर्ण स्रोत की तरफ इशारा किया जब उन्होंने गोरा के संवाद कला का प्रभाव दिखाया—जब भाषाई चित्रण, ऐतिहासिक साक्ष्य और न्याय की अनिवार्यता पर हावी हो सकते हैं—साथ ही जीवन को अमूर्तता में बदल सकते थे, पुनर्निर्धारण, और उसी के साथ, इसे अधिक अनुभुतिपूर्ण एवं ऐतिहासिक से अधिक वास्तविक बनाकर अमूर्त को प्रभावशाली मानवीय गुण में बदल सकते थे। हिन्दू राष्ट्रवाद रवींद्रनाथ के अनुसार, सभी तरह के राष्ट्रवाद शब्दों से निर्मित काल्पनिक प्रवाह में आयातित होने वाला है। यह विचार काल्पनिक एवं आदर्श दुनिया में हमारी दुनिया को हद से ज्यादा अन्धकार में धकेल देता है। किसी कवि के लिए यह आश्चर्य की बात है।

गोरा का अपने गैर-हिन्दू कृत्य से नफ़रत, एक गैर-सहमतिवादी हिन्दू-विवाह प्रणाली में प्रेम विवाह का अभिशाप और वो भी जब सुचरिता दूसरे समुदाय की महिला है, वह और अधिक रूढ़िवादी हो जाता है। सुचरिता के लिए अपने प्यार और जाति-विभाजन एवं घरेलू

नियमों के संदेह को कठोरता से दबा देता है। जैसे ही निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए वैचारिक खाई बढ़ती है, गोरा को ज्ञात होता है कि वह असल में आयरिश माता-पिता द्वारा गोद लिया हुआ बच्चा है, उसके माता-पिता 1857 के विद्रोह के दौरान मारे गए थे। यह ज्ञान, एक ही झटके में, उसे उसके परिवार, उसके हिन्दू और ब्राह्मणवादी परिवेश से बाहर से निकाल देती है। जन्म से एक यूरोपीय होने के नाते और एक विद्रोह के कारण अनाथ, वह उपनिवेशवाद विरोधी विद्रोह से भी अपना रिश्ता खो देता है।

ब्राह्मणवादी हिन्दू देशभक्त गोरा रवींद्रनाथ के अतीत को दर्शाता है जिसे लेखक ने हाल ही में त्याग दिया था। लेकिन रवींद्रनाथ इसकी सम्मोहक शक्ति जानते थे। गोरा, एक कट्टर हिन्दू होते हुए भी, एक उज्ज्वल प्रकाश की तरह था, वह अन्याय और जातिवाद के खिलाफ पराजित लोगों की तरफ से उठ रहे एक शक्ति को प्रदर्शित करता है। हिन्दू देशभक्ति के कुछ पहलू औपनिवेशिक कुशासन से अपमानित एवं कलंकित लोगों के गर्वपूर्ण नकार को दर्शाता है। इसके सबसे सशक्त आत्माभिव्यक्ति के केंद्र में गोरा है। हालाँकि, उसका टूट जाना ही उसे विशेष रूप से भरोसेमंद और आकर्षक बनाता हैः वह मुस्लिम की प्रशंसा करता है, वह क्रोधित हो जाता है जब वह उच्च जाति के हिन्दुओं द्वारा निम्न जाति के हिन्दुओं में अपमानित होता देखता है। इसके बावजूद, उसे लगता है कि औपनिवेशिक समय में, देशभक्ति सभी के प्रति प्रेम और सम्मान पर आधारित होना चाहिए जो हिन्दूवादी भारत में है। कोई अन्य तुलनीय सांस्कृतिक संसाधन नहीं है जिसके साथ हम विदेशी शासन के नस्लवाद को समझकर सामना कर सकते हैं।

उपन्यास के आरंभ में, उसका मित्र बिनय उससे पूछता हैः मुझे बताओ, गोरा, क्या भारतवर्ष तुम्हारे लिए सच जैसा है? क्या तुम उसे स्पष्ट रूप में देखते हो? तुम उसे कैसे देखते हो?

विनय उस आदर्श के प्रति अनिश्चित है जिसके लिए गोरा उसे एक ब्राह्मण लड़की से दूर हो जाने को कहता है जो उसे आकर्षित करती है। देश में जरूर एक नशे जैसी प्रभावशाली शक्ति होती होगी जो बलिदान के लायक हो? जब तक कि वह खुद भी, गोरा की तरह उस वास्तविक शक्ति का अनुभव नहीं कर लेता है, तब तक वह अपनी नई प्रेमाकुल अनुभूतियों से नहीं भाग नहीं सकता है। गोरा कहता है : मेरा देश मेरे लिए हर समय वास्तविक और स्पष्ट है, लेकिन आप उसे मार्शमैन साहब के भारत के इतिहास में नहीं ढूँढ पाएँगे, वह मेरे दिल के अंदर रहता है ... मैं अपना रास्ता खो सकता हूँ, मैं डूब और मर सकता हूँ ... लेकिन वह आश्रय हमेशा मौजूद है, मेरा देश, धन, ज्ञान, विश्वास से पूर्ण है। गलतियाँ हमें घेरे रहती है और जिसे हम देखते हैं, वह वास्तविकता नहीं है ... यह कलकत्ता, तुम्हारा यह व्यापारिक कार्यालय, ये कोर्ट रूम, ये ठोस बुलबुले ... क्या यह मेरा भारतवर्ष हो सकता है? यहाँ हम झूठे जीवन जीते हैं, निरर्थक काम करते हैं, यह भारतवर्ष एक जादूगर की चाल है, इसका कोई वास्तविक जीवन नहीं है ... एक सच्चा भारत है, हमें उसकी खोज करने की जरूरत है, वहाँ पहुँचे, हमारी जीवनधारा, आत्मा, ज्ञान को उससे बाहर निकालें। ... हमने अपने आत्मप्रवंचना से खुद को कमज़ोर कर लिया है, एक बार जब हम पूरे देश के लिए गर्व का अनुभव करेंगे, तो भारत की सच्चाई प्रकट होगी।[24]

गोरा दावा करता है कि देश की स्थिति इसके वास्तविक स्वरूप से कुछ अलग होता है। इसके आंतरिक सत्य को एक आस्था के रूप में, एक रहस्यमय अनुभूति के रूप में पकड़ना चाहिए। यही असली भविष्य है जिसे अस्तित्व में आने के लिए अतीत और वर्तमान के रूप में देखना चाहिए।

वह इसे भी मानता है कि असली भारत दुःखों से ग्रस्त है। लेकिन वह अभी भी एक देवी हैं और हमें उसे देवी ही समझना चाहिए। उसे लगता है कि इस अपमान से मुकाबला करने के लिए एक आंदोलन पैदा होगा। लेकिन यह देवी में हमारी आस्था से पैदा होगा– "विनय, मैं अपनी देवी को देखता हूँ, वह सौंदर्य से सराबोर नहीं है, मैं उसे अकाल, गरीबी, पीड़ा में देखता हूँ, उसका अपमान होता है। उसकी पूजा गीतों और फूलों की बजाय जीवन और रक्त से करनी होगी। मैं इस रक्तरंजित रक्तपात आकाश में, स्वतंत्रता के एक नए सुनहले भोर के आगमन को देखता हूँ।"[25]

राजनीतिक आवश्यकता

इस प्रकार, 'देवी' और 'भूमि' एक राजनीतिक आवश्यकता है। भारत की वर्तमान दुर्दशा को एक साथ उठाया और ख़त्म कर दिया जाता है। एक स्तर पर, इसे एक झूठे आवरण के रूप में देखा जाना चाहिए, जिसमें सत्य को माया या दैवीय कृत्य से जोड़कर देखा जाता है और ऐसे निरंतर झूठ के साथ कि सत्य ढँक जाता है। लेकिन, दूसरे स्तर पर, यह देवी का एक आवश्यक शृंगार भी है क्योंकि पीड़ा का एहसास भी युद्ध का आह्वान है। गोरा के वर्णन में देवी की दो अलग-अलग ऐतिहासिक परतें हैं। एक 'आनंदमठ' की देवी का काल है जो 18 वीं शताब्दी के अंत में एक विनाशकारी अकाल और युद्ध के बीच में हिन्दू देशभक्तों के सामने प्रकट हुई थी जब औपनिवेशिक शासन की तुरंत स्थापना हुई थी। दूसरा स्वदेशी आंदोलन का तात्कालिक अतीत है, जिसमें युद्ध और संघर्ष का खून और घमासान का चरमोत्कर्ष संवाद और राजनीतिक हत्याओं की क्रांतिकारी आतंकवादी कार्रवाई की शुरुआत है।

जब सुचरिता उसे वास्तविक देश के सटीक निवास स्थान बताने का दबाव डालती है, तो गोरा प्राचीन अतीत को अपनी संस्कृति की ऐतिहासिक निरंतरता के साथ स्पष्ट करता है, जो उसके शाश्वत सत्य के सामयिक विकृतियों से दूर होता है। इतिहास नियति है, इतिहास देश है, अतीत हमारा वास्तविक स्थान है।[26]

विनय बनाम गोरा

विनय के विचार अस्थिर हैं। कई बार, वह गोरा के जादुई शब्दों एवं स्थापना से पूरी तरह सहमत हो जाता है। हालाँकि, प्रभाव ख़त्म होते ही वह फिर संदेह और अपनी व्यग्र भावनाओं और जरूरतों से घिर जाता है। अंततः, वह गोरा को अपना फैसला बताते हुए कहता है कि उसे अपनी हिन्दू राष्ट्रवादी योजना को छोड़ देना चाहिए क्योंकि उसे लगता है कि वह देश को गोरा के भाषणों से इतर अपने अनुभवों से देख सकता है, एवं अनुभवों की ही तरफ झुक जाता है। हालाँकि वह गोरा को छोड़ने से पहले, वह अपने दोस्त को अपने प्रेम के विषय में बताता है। वह उन महिलाओं के बारे में भी बात करता है, जिन्हें अपनी आत्मनिर्भरता एवं रचनात्मकता की रक्षा के लिए स्वतंत्र रहना चाहिए, जो हिन्दू विधान नहीं देता। दूसरी तरफ, उसके ये शब्द गोरा के प्रेम की जरूरत एवं उसके मन में महिलाओं की छिपी और छुपाने को मजबूर क्षमता के प्रशंसा को उभार देता है। हालाँकि, इन विचारों को वह तुरंत दबा देता है, लेकिन विनय के शब्द उसके भीतर उसकी योजना की पूर्ती के खोखलेपन की छवि को चुनौती देने का काम करते हैं। इस प्रकार, अनुभव और जरूरतें, बिनय के सरल शब्दों को अधिक प्रभावशाली बना देते हैं। इसी तरह, हमें आनंदमयी के बातों का भी अर्थ पता चलता है जब वह बार-बार बिनय और गोरा को बताती है कि वह भी कभी रूढ़िवादी

थी। लेकिन जब उसने शिशु गोरा को गोद में लिया, तब उसे सामाजिक विभाजन के झूठ और अमानवीयता का एहसास हुआ। ज्योंही गोरा का पालन-पोषण सामने आता है, सबकुछ स्पष्ट हो जाता हैः जैसे कि उसे किसी दूसरे धर्म और समुदाय का एक अनाथ बच्चा मिलता है, एक ऐसा बच्चा जिसका स्पर्श प्रदूषण का पर्याय है, उसके प्यार की अनुभूति और मातृत्व भावनाओं ने उसके मन में बसे सामाजिक जकड़न की संरचना को तोड़ देती है। एक बार जब प्यारे बच्चे ने ने उसे महसूस करवाया कि उसकी जाति या जातिहीनता कोई मायने नहीं रखती, तो उसे बोध होता है कि पवित्रता और प्रदूषण के सिद्धांत असत्य थे।

इसी तरह, सुचरिता गोरा की दृष्टि से देश की झलक पाती है। उसे गोरा और उसके शब्दों से प्यार हो जाता है। लेकिन उसकी अपनी स्पष्ट बुद्धिमत्ता, पिता प्रदत्त द्वारा शांत तार्किकता, गोरा के तर्क को बार-बार मूल बिंदु में बदल देता है। गोरा के प्रति उसके अगाध प्रेम के कारण ही वह हिन्दू अनुशासन को स्वीकार करने के लिए मजबूर करती है, जिसे गोरा देशभक्ति के रूप में करता है। लेकिन, आखिरकार, उसे एहसास होता है कि उसे गोरा के लिए अपने प्यार को मारना चाहिए और श्रेष्ठ जाति और वंश के व्यक्ति के साथ प्रेम विवाह करना चाहिए। अंततः, उसकी बहन ललिता, जो विनय से शादी करती है, के प्रति लिए उसका प्यार है, जो धार्मिक विभाजन और सामाजिक कलंक को धता बताती है, अतः गोरा का रास्ता त्याग देती है। वह हिन्दू राष्ट्रवाद के कारण ललिता को नहीं छोड़ सकती। उस पर यह प्रेम का अनुभव सामाजिक अन्याय और अत्याचार से परे ले जाता है। यह उस रहस्यमय विचार पर जीत है जो एक अनुशासनात्मक शक्ति का निर्माण करती है।

सुचरिता गोरा से पूछती है कि 'देश की पहचान आस्था से क्यों होनी चाहिए?' वह पूछती है कि 'क्या आस्था देश से बड़ा नहीं है?' गोरा प्रतिरोध करता हैः हमारी आस्था हमारा इतिहास है, यही है जो जिससे देश बनता है ... यह सभी देशों के सन्दर्भ में सत्य है, प्रत्येक देश एक आस्था पर आश्रित है जो इसके सार को व्यक्त करता है। भारत के लिए, यह आस्था हिन्दू धर्म है। सिर्फ वही हमारे अतीत और वर्तमान के बीच एक कड़ी स्थापित कर सकता है, हमारे देश को एक बना सकता है।[27]

"यहाँ जो भी मौजूद है, हमें उसे बिना शर्तों के गले लगाने की जरूरत है...अगर हम पश्चिम से अलग हैं, तो कोई फर्क नहीं पड़ता...।" वह मानता है कि ''जाति स्पष्ट रूप से अन्यायपूर्ण और तर्कहीन लग सकती है। इससे कई समस्याएँ उपजती हैं। फिर भी, यह हमारे आस्था का विषय है जिसने बहुत सी तर्कसंगत, मानवीय एवं गंभीर चीजों का उत्पादन किया है। इसे समग्रता में देखना ही न्यायसंगत होगा।''[28] परेश उससे तर्क करता है कि भले ही हिन्दू जाति का कोई उद्देश्य बड़ा हो, हम इसे नहीं मान सकते। हम सभी देखते हैं कि मानव के लिए घृणा की दीवारें हैं और उन्हें मानव नहीं माना जाता है। गोरा प्रतिवाद करता हैः अगर हम कुछ तत्वों के कारण नहीं समझ सकते हैं लेकिन फिर भी उसकी पूरी बात विशिष्ट है, तो हमें उसे पूर्णतः स्वीकार करना चाहिए और मानना चाहिए कि उन तत्वों के होने का भी कोई उच्च कारण होगा, जिसे हम नहीं देख सकते क्योंकि हमने अपनी दृष्टि को गिरवी रख दिया है, अब हम विदेशी दृष्टिकोण से देखते हैं जो निंदनीय और संदेहयुक्त है। जैसे ही हम पूरी चीज़ को प्यार से लेते हैं, तो अर्थ स्पष्ट हो जाएगा। यदि हम कुछ हिस्सों को बदल या छोड़ देते हैं, तो हम एक पूरी, अद्भुत सभ्यता को नष्ट कर देंगे, हम अपनी खुद की, अपनी पहचान को मार देंगे। जैसा कि वह कहता है—''सुधार? वह बाद में आएगा। तात्कालिक आवश्यकता है देश को पूरे दिल से प्यार करने की, उसके साथ एक होने की है। एक बार

जब आप सुधार करने की कोशिश करते हैं, तो आप उसे पतन की ओर ले जाते हैं, आप उसे आलोचना से नीचा दिखाते हैं, आप खुद को उससे श्रेष्ठ साबित करते हैं।''[29]

तो अतीत क्या है, स्मृति और आदर्श क्या है, जो रहस्यमयी एवं अपारदर्शी है वही अनुभव, वर्तमान और लौकिक से अधिक वास्तविक है। यह प्रतिस्थापन वास्तविक आवश्यकता बन जाता है क्योंकि वास्तविक अनुभव कोई वास्तविक संसाधन प्रदान नहीं करता है। जो उसे दिखाई देता है वह हमेशा निराश करता है। गोरा गाँव जाता है और स्वीकार करता है कि मुसलमानों में आपसी सहयोग और एकजुटता अधिक मजबूत है क्योंकि वे जाति में विभाजित नहीं हैं। वह स्वयं ब्राह्मणवादी वर्जनाओं को तोड़ता है और निम्न जाति के हाथों से पानी पीता है क्योंकि उच्च जाति के उत्पीड़न को देखकर वह पीड़ित है। वह हताश लौटता है, उसे अब वह भारतवर्ष कहीं नहीं मिल सकता जिसे वह प्यार करता है। शहर में, वह दूसरे धर्म की महिला से प्यार करता है यह जानते हुए कि उसे छोड़ना होगा। इससे भी बदतर, उसे उस महिला को अपना आकर्षक व्यक्तित्व त्याग कर प्रेमविहीन शादी के जरिए एक अयोग्य पति स्वीकार करने का सलाह देना चाहिए। वह अपनी माँ से प्यार करता है लेकिन वह उसके हाथ का बना खाना नहीं खा सकता। वह अपने सबसे प्यारे दोस्त से अलग हो जाता है जब वह किसी अन्य धर्म और जाति की लड़की से शादी कर लेता है। उसे अपने रूढ़िवादी शिष्यों, जिन्हें गैर-हिन्दू, निम्न जाति, महिला से नफ़रत है, से घृणा है। फिर भी, वह उनका एकमात्र साथी बने रहने को अभिशप्त है। उसे एहसास होता है कि उसके हिन्दू भारत, जहाँ विभाजन अधिक स्वीकृत है, में प्रेम के लिए कोई जगह नहीं है।

हिन्दू भारत के लिए बलिदान

उसकी निराशा ही उसके विश्वास को दृढ़ करती है। उसकी कल्पना के भारत के लिए उसका बाकि सभी रिश्तों से अधिक मजबूत है। उसे कठोरता से अपने सारे संदेहों एवं आवश्यकताओं को दबाकर अपने मुकाम तक पहुँचना है। वह अपने आसपास उच्च ब्राह्मणवादी प्रथाओं का एक घेरा बनाने की तैयारी करता है। यह एक त्याग है जिसे हिन्दू भारत के लिए करना होगा। एक प्रकार से, वह अपने उद्भव की खोज से पहले ही वह दुविधाओं से घिर गया है। उसे या तो अपने वास्तविक अनुभव के सहूलियत के अनुसार पुनर्विचार करना होगा या सबकुछ पूर्णतः आस्था के अनुरूप ही करना होगा। उसके आत्मन्वेषण से स्पष्ट हो जाता है और उसके पहले विचार ही दृढ़ हो जाते हैं, यह अन्य सभी विकल्प समाप्त हो जाते हैं।

आत्मान्वेषण हिन्दू राष्ट्रवाद के उसके पूर्व प्रतिबद्धता के दो महत्त्वपूर्ण प्रस्थानबिंदु की तरफ संकेत करते हैं। सबसे पहले, गोरा अपने अतीत से शीघ्र ही मुक्त हो जाता है। यदि अतीत, उसके मामले में, असत्य था, तब उसे अपने सम्पूर्ण जीवन को पूरी तरह से नए अर्थों पर पुर्नस्थापित करना होगा। हालाँकि, उसके पहले धारणानुसार, यह एक असंभव आत्मदुर्बलता होगी। क्या अतीत से अलग होना संभव है और तिस पर भी एक ऐसी मानवीय पहचान का दावा करना जो जीने लायक हो? क्या हम उन अर्थों से दूर हो सकते हैं जो हमारे अतीत का हिस्सा है? क्या देशभक्ति ऐसी कोई पहचान विकसित कर सकती है जो अतीत पूर्णतः न सम्बंधित हो?

दूसरा, भारतवर्ष के लिए उसका प्यार उसके लिए एक सबसे अधिक वास्तविक, स्पष्ट एवं प्रभावशाली अनुभव रहा था, जो उसके तात्कालिक एवं व्यक्तिगत प्रतिबद्धताओं से अधिक श्रेष्ठ है। भले ही, इसका आधार झूठ पर आश्रित हो, फिर भी, यह एक सच्ची अनुभूति व

प्रेम था। उसके आत्मान्वेषण के बाद भी ऐसा ही रहता है। अब वह जान चुका है कि यह एक बाहरी एवं विदेशी कहे जाने वाले आदमी के लिए भी संभव है कि उसकी पहचान भारत के साथ, अपने लोगों के साथ हो। चूँकि वह अब जानता है कि देशभक्ति को जन्म की घटना के लिए नहीं छोड़ा जा सकता, जो हिन्दू राष्ट्रवाद की सम्मोहक शक्ति है - कि अतीत, आस्था, जन्म को देश की मिट्टी में तलाशने की आवश्यकता है ताकि संबंधित परिस्थितियों के अनुसार कार्य किया जा सके—उसने अपने स्वयं के जीवन से इसे दूर कर दिया है।

गोरा अब देश और भारत के लोगों से प्यार करना चाहता है। उसी तर्ज पर, वह सभी प्रतिबद्धताओं और पहचान के लिए स्वतंत्र प्रेम के सन्दर्भ में एक नई समझ विकसित करता हैः व्यक्तिगत और सामूहिक। यदि कोई देश को केवल आत्मनिर्णय की स्वतंत्रता में प्यार कर सकता है, तो जीवन के प्रत्येक पहलुओं का मूल्य स्वतंत्रता होना चाहिए : एक ऐसा मूल्य जिसका देश स्वयं सम्मान करे और जिसे कभी भी ख़त्म करने या देशभक्ति के नाम पर योग्यता ढूँढने की कोशिश न करे। वह सुचरिता की ओर मुड़ता है और पहली बार अपना हाथ उसकी तरफ बढ़ाता है।

कथानक युक्ति

उपन्यास में, गोरा का श्वेतवर्ण होना भी पश्चिमी परंपराओं और संसाधनों की प्रस्तुति के लिए कथानक मुक्ति का काम करती है - जिसे भारतीयों ने भारतीय इतिहास में अपनी पहचान के रूप चुना और पुनर्सृजित किया है। 'राष्ट्रवाद' जैसे अपने बाद के लेखन में, रवींद्रनाथ ने भारतीय जीवन से पश्चिमी मूल्यों के निष्कासन के विरुद्ध तत्काल एक चेतावनी दिया। गोरा यूरोपीय और भारतीय दोनों हो सकते हैं। वास्तव में, नामकरण महत्त्वपूर्ण है। इस शब्द का अर्थ है श्वेत वर्ण (गौर वर्ण) और यह श्वेत नस्ल के साथ-साथ प्रारंभिक आधुनिक बंगाल के प्रिय महान वैष्णव संत, चौतन्य जिन्हें गौरंगा या गोरा भी कहा जाता है, को दर्शाता है।

जन्म की घटना उसे अपनी जाति की पवित्रता के बोझ से मुक्त कर देती है जिसने उसे पीड़ित और अपने ही लोगों से दूर कर दिया था। वह जानता हैः ''उत्तर से दक्षिण, पूर्व से पश्चिम तक, भारत के सभी मंदिर मेरे लिए बंद हैं। मैं अब किसी जाति के साथ भोजन नहीं कर सकता। एक पल में, मेरा पूरा जीवन समाप्त हो गया है, मेरी अब कोई पहचान नहीं है।''[30]

वह इस नुकसान, अतीत के गायब होने से, जो उसके पूर्ववर्ती विचारों में, सच्ची पहचान, व्यक्तिगत और सामूहिकता का प्रतिनिधित्व करता था को क्या करता है? वह खुशी-खुशी परेश के पास जाता है इसलिए नहीं कि वह एक गोरा आदमी है, बल्कि इसलिए कि वह भी अब भारतीय बन गया है। यह उसकी कोई ऐसी भारतीय पहचान नहीं है जिसका ज्ञान आवश्यक है, यह उसकी मात्र जाति की पहचान है। वह एक भारतीय होना चुन सकता है, लेकिन वह अपनी जाति नहीं चुन सकता, जिसका निर्धारण सही मायने में जन्म, उत्पत्ति और आस्था से होता है। "...मैंने अपने आप को भारत में शामिल करने की इतनी लम्बी और भरपूर कोशिश की, लेकिन कुछ है जो इसमें बाधक है...मैंने अपने बाधाओं को प्यार से जीतने की कोशिश की लेकिन मैं ऐसा कभी नहीं कर पाया। यही कारण है कि मैंने कभी भारत को वैसे देखने की हिम्मत नहीं की जैसा यह है, मैं ऐसा करने से डरता था। मैंने एक सम्पूर्ण आदर्श का निर्माण किया और इसे चारों तरफ से घेर दिया...अब वह घेरा गायब हो गया है और मैं अपने असली देश की गोद में हूँ। जिसे मैं अपनी जान से भी अधिक प्यार करता हूँ उसे अधिक

सजाने और सँवारने की आवश्यकता नहीं है और अंत में, मैं अपने असली काम की शुरुआत कर सकता हूँ अपने 25 करोड़ लोगों का कल्याण।"

यहाँ वास्तविक अनुभव और कामना का मिलन होता है। गोरा ब्राह्मण और हिन्दू पहचान से मुक्त और सभी भारतीयों से अलग हो जाता है। हिन्दू धर्म में अनवरत चले आ रहे जातियों के सभी विभाजन उस पहचान के साथ ही ख़त्म हो जाते हैं।

आस्था और देश को कैसे एक साथ लाया जाए? गोरा सुधारवादी परेश की ओर मुड़ता है, क्योंकि उसे अब बदलाव या सुधार से डरने की कोई जरूरत नहीं हैः अब मुझे उस ईश्वर से मिलवाएँ, जो सभी हिन्दू, मुस्लिम और ईसाई के हैं, जिनके मंदिर किसी के लिए बंद नहीं हैं, जो हिन्दुओं के भगवान नहीं बल्कि सभी भारतीयों के हैं।

अगर किसी विशेष आस्था से किसी देश की पहचान नहीं होती, तब आखिरकार देश है क्या? शाम को गोरा अपनी माँ के पास लौटता हैः

''माँ, तुम मेरी माँ हो। मैंने हर जगह उसकी तलाश की और वह हर समय घर पर बैठी मेरी प्रतीक्षा करती रही ... तुम्हारे पास न जाति है, न कानून है, न घृणा है, तुम प्रेम की प्रतिमूर्ति हो। तुम ही मेरी भारतवर्ष हो। माँ, अब लछमिया को बुलाओ, उसे मुझे गिलास पानी देने को कहो।''[31]

जब वह अपनी माँ और लछमिया के पास लौटता है, तो वह देश की दूसरी परिभाषा की तरफ लौटता हैः उसे लोगों से प्यार करना चाहिए, क्योंकि वो उसके सभी दुर्दिन, दुःख और विरोधाभासों के साथ हैं। माँ के लौटते ही देवी गायब हो जाती हैं।

4

यह एक अलग देशभक्ति का संकल्प है जो हिन्दू राष्ट्रवाद की तुलना में अधिक मानवीय है। यह आज कई मायनों में प्रासंगिक है। हम अभी भी हिन्दू और भारतीय में पहचान को लेकर तीखी बहस करते हैं; रीति-रिवाजों और परंपराओं को अनवरत पोषित करने के लिए, क्योंकि वे "हमारे" हैं और क्योंकि पश्चिम उन्हें कलंकित मानता है; देश के विचार को अपने लोगों और भूमि से अधिक वास्तविक बनाने के लिएरू उन मान्यताओं और प्रथाओं को छोड़ने की माँग करने के लिए जो हिन्दू-भारतीय नहीं हैं, चाहे वे सार्वजनिक रूप से रोमांस, महिलाओं द्वारा सार्वजनिक शराब सेवन, या आस्था का अधिकार, जो हिन्दू नहीं है। 100 वर्षों के दौरान जो आश्चर्यजनक रूप से चला आ रहा है वह है अबाध विश्वास कि देश को तब भी स्वतंत्र कहा जा सकता है जब उसके लोग - अछूत, किसान, महिलाएँ, गरीब - गुलामी में हों। 'गोरा' इन समस्याओं और चुनौतियों का सामना इस प्रकार से करने का दावा करता है कि आज भी वह प्रतिरोध का सबसे प्रभावी 'पाठ' बना हुआ है। इसके अलावा, यह उपन्यास एक गूढ़ तर्क रखता है जो मुख्यधारा के राष्ट्रवाद, यहाँ तक कि धर्मनिरपेक्ष विविधता के देशभक्ति के लिए भी समस्या है। यदि देश स्वतंत्र रूप में चुने गए प्रेम से अपना देश बन जाता है, तो क्या देशभक्ति, तब क्या देशभक्ति शर्तहीन एवं शाश्वत प्रेम, जुड़ाव एवं पहचान से बन सकता है? क्या होता है जब लोगों का एक हिस्सा देश के साथ अपनी पहचान नहीं करता और अपना एक अलग देश चाहता है? क्या देशभक्ति बल से जुड़ाव एवं प्रेम की अपेक्षा रख सकती है?

लेकिन, एक ही समय में, गोरा में देशभक्ति का संकल्प हिन्दू राष्ट्रवादियों की तरह सहज और आंतरिक रूप से सुसंगत नहीं है। यदि हिन्दू इतिहास में गर्व देशभक्ति का घटक नहीं है, तो किस आधार पर निर्दिष्ट क्षेत्र के लोगों के साथ कोई अपनी विशेष रूप से करता

है? गोरा, आनंदमयी को बताता है कि वह मातृभूमि का असली चेहरा है क्योंकि उसकी न कोई जाति है न किसी के प्रति घृणा। न्यायपूर्ण और समतावादी देश की दृष्टि जीवंत है, लेकिन क्या यह वास्तविक अतीत या वर्तमान को दर्शाता है? या, यहाँ भी, एक आदर्श भविष्य एक निरंतर और वास्तविक अतीत के रूप में आता है - जो गोरा के पहले के संवादों ने एक अलग उद्देश्य के प्रदर्शन को दिखाया था? नई दृष्टि पुराने पर विजय पाती है क्योंकि यह लोगों को उनकी सभी समस्याओं से रूबरू कराती है और गोरा को उनके कल्याण के लिए प्रेरित करती है। काल्पनिक मातृभूमि के रहस्य को परत-दर-परत उभार दिया जाता है और लोगों के दुःखों को अब स्वीकार किया जा सकता है। लेकिन अब एक नई समस्या सामने आती है। न्याय के लिए पारस्परिक देखभाल और चिंता सिर्फ मनमाने तरीके से सिर्फ एक व्यक्ति नहीं बल्कि सम्पूर्ण समुदाय को अपनाना चाहिए? नैसर्गिक प्रेम को एक विशेष प्रकार के प्रेम में बदल देने के लिए पर्याप्त ठोस एवं सशक्त कारण नहीं है, जब तक कि इन सबसे जूझने के बावजूद किसी निर्दिष्ट देश में जन्म न हो।

इस उपन्यास के तुरंत बाद लिखी गई एक कविता में, रवींद्रनाथ ने भारतवर्ष के प्रति प्रेम को सार्वभौमिक प्रेम में मिलाने का संदेश दिया है। "भारत तीर्थ" में उन्होंने भारत को सभी सभ्यताओं के संगम के रूप में वर्णित किया है, दुनिया के सभी लोगों का समागम—शक, हूण, पठान, मुगल और ब्रिटिश। आर्य, गैर-आर्य, उच्च और निम्न जातियाँ, सभी धर्म। यहाँ ईश्वर मनुष्य में साकार होता है। चूँकि भारत ऐतिहासिक रूप से सभी संस्कृतियों के लिए खुला है—इसमें सामूहिकता का ऐसा घनिष्ठ भाव है कि इसमें कोई एक व्यक्ति का मत विलीन हो जाता है—कि उसे प्यार करना पूरी दुनिया को प्यार करना है। ऐसे में, भारत एक देश से कहीं अधिक है, यह दुनिया का एक सूक्ष्म जगत है, यह सार्वभौमिकता का प्रतीक है। इस महान विशिष्टता की शर्त है कि किसी भी स्रोत से आने वाले तत्त्वों, विचारों, लोगों को स्वीकार किया जाए, वास्तविक, मूल, स्वदेशी, विदेशी आदि की सीमाओं को समाप्त किया जाय।

साहसी दृष्टि

जब उपनिवेश के रूप में पहचाने जाने का संकट गंभीर था, ऐसे में औपनिवेशिक काल में इस ओर कदम बढ़ाना एवं घोषणा करना एक साहसिक दृष्टि थी : जब सांस्कृतिक स्वतंत्रता की रेखाएँ जो एक तरफ आत्म विश्वास, और दूसरी तरफ साम्राज्यवादी शक्ति द्वारा सांस्कृतिकरण, विजेता के प्रति अपनी अस्मिता का पूर्ण आत्मसमर्पण, इतना अधिक था कि वह अपने अस्तित्व को ही नकारने जैसा था। 100 साल पहले, यह हिन्दू कट्टरपंथियों या बंकिमचंद्र के कट्टरवाद का सबसे बड़ा खंडन था। यह वर्तमान में हिन्दुत्व हिंसा और सांस्कृतिक जड़ता के खिलाफ सबसे कारगर तर्क है।

वर्तमान में, इस दृष्टि से देशभक्ति का आधार अस्पष्ट एवं अस्थिर है। हालाँकि किसी न किसी रूप में, वर्तमान की संकीर्णता को दूर करने के लिए 'गोरा' भी अतीत का ही उपयोग करता है। वह ऐतिहासिक विशेषता, जो भारतीय अतीत से विरासत में मिली है - सभी संस्कृतियों की स्वीकृति, समान आदर भाव अपने लिए विशेष रूप से कुछ ऐसी माँग करती है जो सभी मानवों के लिए हो, क्षेत्रीय सीमाओं से परे सभी मानवों के लिए हो।

इस प्रकार, गोरा की देशभक्ति की दृष्टि एक ठोस तर्क के माध्यम से देशभक्ति जैसी दुरूह समस्या का हल ढूँढने में विफल रहती है। इसमें, देशभक्ति सार्वभौमिकता के बहुत निकट है, इसे संसार के सभी असहाय लोगों के लिए सद्भाव एवं हर जगह न्याय के लिए संघर्ष में

विलीन हो जाने का खतरा है। देशभक्ति को हिन्दू राष्ट्रवाद के रूप में विकृत करने वाले जातीयता से बचने के लिए, यह देशभक्ति के गौण होते बिन्दु तक जाता है। इस आत्मविरोधाभास में ही इसकी वास्तविक उर्जा निहित है।

संदर्भ

1. Gora, Rabindra Rachanabali, Centenary Edition, Vol 9, Calcutta, 1961.
2. Anandmath, Bankim Rachanabali, Vol 1., Calcutta, 1953.
3. On this, see my "Conjugality and Hindu Nationalism" in Hindu Wife, Hindu Nationalism: Community, Religion, Cultural Nationalism, New Delhi, 2001.
4. I have argued on these lines in "The Birth of a Goddess: Bankimchandra Chattopadhyay," Anandmath, in Rebels, Wives, Saints: Designing Selves and Nations in Colonial Times, New Delhi, 2008.
5. First published in London, 1917. See in Sisir Kumar Das (ed.), English Writings of Rabindranath Tagore, Vol 2. Delhi, 1996. More recently republished by Penguin, India in 2009 and edited by Ramachandra Guha.
6. V D Savarkar, Hindutva, Bombay, 1923.
7. Both Subol Chandra Mitra's Saral Bangla Abhidhan (3rd edition, Calcutta 1909) and Haricharan Bandopadhyay's Bangiya Shabdkosh, Vol 1 (Calcutta 1930), define desh as a specific region with personal connotations. Najaf Haidar advises me that mulk has similar associations.
8. "Oi Bhubanamohini" and "Amar Shonar Bangla" in Gitabatan, Calcutta, 1973, pp 257 and 243.
9. In this regard, Sumati Ramaswamy's recent work on the cartographic imagination in popular representations is illuminating, though the points she makes are somewhat different, since she focuses on the icons of the Bharatmata as it appeared on the maps.
10. Strachey, India, London, 1886.
11. Cited in Rosane Rocher, Orientalism, Poetry and the Millenium: The Checkered Life of Nathaniel Brassey Halhed, 1770-1830, New Delhi, 1983, p. 35.
12. See, for instance, extracts from Bangabashi and Dainik O Samachar Chandrika in Report on Native Papers, Bengal, between 1889and 1881; also Chandranath Basu, Garhasthya Path, Calcutta, 1872; Ishanchandra Basu, Streediger Prati Updesh, Calcutta, and many other late 19th century Bengali tracts. Outside Bengal, the great Hindi literary figure, Bharatendu Harishchandra of Benaras, developed this theme in his Dushan Malika. See Vasudha Dalmia, The Nationalisation of Hindu Traditions: Bhartendu Harishchandra and Nineteenth Century Banaras, Delhi, 1996. On 19th and early 20th century Hindu neo orthodoxy, see Kenneth W Jones, Socio Religious Reform Movements in British India: The New Cambridge History of India, Vol 111:1, Cambridge University Press, 1989, chapter 3.
13. J G A Pocock, The Machiavellian Moment: Florentine Political Thought and the Atlantic Republican Tradition, Princeton University Press, 1975, chapter 1.
14. Reformers often cited bhakti traditions of spiritual egalitarianism. Those, however, had restricted histories and limited acceptance in their own times and never had the power to seriously challenge mainstream caste or gender norms for most Hindus.
15. On this, see Sumit Sarkar, The Swadeshi Movement in Bengal, 1903-08, Delhi, 1973.
16. Ibid.
17. Swadeshi Samaj (1904); translated by Sumit Sarkar in Swadeshi Movement.
18. See, for instance, "Bijoya Festival" (1905), cited in S C Sarkar, Bengal Renaissance

and Other Essays, Delhi, 1970.

19. Nationalism.
20. Swadeshi Movement in Bengal; also my "Questioning Nationalism: The Difficult Writings of Rabindranath Tagore" in Rebels, Wives, Saints.
21. Sumit Sarkar, Swadeshi Movement.
22. Gora was born in 1857. He seems to be a young man in his early 20s in the novel. I conclude, therefore, that the 1870s would be the novelistic time span, when the first flush of Hindu revivalist nationalism appeared as a force.
23. "Kaliyug, Chakri ki Bhakti: Ramakrishna and His Times" in Writing Social History, Delhi, 1997.
24. Gora, pp 17-18.
25. Gora, p 65.
26. Ibid, p 101.
27. Ibid, pp100-01.
28. Ibid, p. 263.
29. Gora, p. 46
30. Ibid, p 346.
31. Ibid, pp 348-50.

(ई.पी.डब्ल्यू; 25 जुलाई, 2009 से साभार, जहाँ मूल अंग्रेजी लेख प्रकाशित हुआ था।)

गोरा : अस्मिता का आख्यान और आख्यान की अस्मिता

मदन सोनी

रवींद्रनाथ ठाकुर का उपन्यास गोरा हमारे समक्ष एक अनोखे परिसंवाद के रूप में उद्‌घाटित होता है जिसमें अस्मिता या आत्मपहचान एक मुद्दा है इस परिसंवाद में यह मुद्दा जटिल तो है ही, अपनी समस्यात्मकता में वह इसलिए भी अत्यन्त संगीन है क्योंकि महज विचारों और प्रत्ययों की भूमि एक जगह सीमित न होकर वह इस परिसंवाद के अनेक भागीदारों के व्यक्तित्व और अस्तित्व तक को अपने विस्तार में समेटे हुए है। इससे पहले कि हम इस मुद्दे पर आएँ, हम उपन्यास के उस ढाँचे पर गौर करें जिसे मैं अनोखे परिसंवाद की संज्ञा दे रहा हूँ।

सबसे पहले ये कुछ उद्धरण :

> गोरा इतनी जोर से अ*पनी बात कह रहा था कि गोरा को नीचा दिखाने के लिए सुचरिता के मन में भी बलवती प्रेरणा हुई।*
>
> × × ×
>
> *उधर हारान के आ जाने से सुचरिता के मन में थोड़ी- सी आशा का उदय हुआ। गोरा की हेकड़ी को जैसे भी हो सके नीचा दिखाया जाय तो उसका जी ठण्डा हो।*
>
> × × ×
>
> *अब तो हारान के लिए हार मानना और भी कठिन हो गया।*
>
> × × ×
>
> *उस दिन तर्क में गोरा को नीचा दिखाकर सुचरिता के सामने अपनी जय पताका फहराने की हारान की बड़ी इच्छा थी।*
>
> × × ×
>
> *...(उसने) बाल की खाल उतारने वाली दलीलों से अपने को यह भुलावा देने की कोशिश की है कि गोरा की राय उसकी राय है,*

आज मन-ही-मन यह स्वीकार करके उसने ललिता को उसकी स्वाधीन बुद्धि-शक्ति के कारण अपने से कहीं श्रेष्ठ मान लिया।

× × ×

ललिता और मैं एक तरफ होकर मानो सारे संसार के प्रतिकूल खड़े हुए है।

× × ×

किन्तु परेश बाबू को ललिता के चेहरे में जो सौन्दर्य दीखता था वह रंग या गठन का सौन्दर्य नहीं था, वह अन्तर का गम्भीर सौन्दर्य था। उसमें केवल लालित्य नहीं था, स्वतन्त्रता का तेज और शक्ति की दृढ़ता भी थी।

× × ×

हारान बाबू कुछ कहे बिना आँधी से पहले के सन्नाटे से स्तब्ध बैठे रहे। उनका मौन कह रहा था—'अच्छी बात है, मैं बैठकर इन्तजार करता हूँ—मुझे जो करना है वह पूरा कह कर ही उठूँगा'।

× × ×

ललिता ने व्यंग्यपूर्वक कहा....

× × ×

हारान बाबू ने एक कठोर दृष्टि से ललिता को चुप कराना चाहते हुए कहा...

× × ×

गोरा ने मेघ-गम्भीर स्वर में कहा...

× × ×

गोरा से ज़ोर की बहस छिड़ गयी। ऐसी बहस में गोरा युक्तियाँ देने की ओर न जाकर बहुत जोर-शोर से अपनी ही बात कहता था।

× × ×

आज भी उसने इसी ज़ोर से ही विनय की सारी बातें ठेल कर गिरा देनी चाहीं लेकिन आज उसे बाधा का समाना करना पड़ा। जब तक एक ओर गोरा और दूसरी ओर विनय का केवल मत था, तब तक विनय हार मानता आया, लेकिन आज दोनों तरफ दो वास्तविक मनुष्य थे, आज गोरा किसी वाद्यव्य अस्त्र से किसी दूसरे वाद्यव्य अस्त्र को नहीं काट रहा था, आज बाण जहाँ आकर गिरते थे, वहाँ वेदन-भरा मनुष्य का हृदय था।

× × ×

इस बहस के सहारे गोरा अपने सामने अपनी प्रतिष्ठा भूमि को भी स्पष्ट कर लेना चाहता था।

× × ×

विनय के साथ बहस होने के बाद गोरा ने तय किया, युद्ध-क्षेत्र छोड़ देने से नहीं चलेगा।

× × ×

परेश बाबू से बात करते-करते विनय अपनी वर्तमान परिस्थिति के अनुकूल युक्तियों को रूप देने लगा वह ऐसे उत्साह से बातें करने लगा मानो बहुत दिन के तर्क-वितर्क के बाद वह इस पक्के सिद्धान्त पर पहुँच सका है।

× × ×

थोड़ी देर के लिए सुचरिता सब बहस और दलीलें भूल गयी, गोरा के गम्भीर स्वर की आश्चर्यचकित प्रबलता ने उसके सारे अन्तःकरण को झनझना दिया।

× × ×

इस पर बहस मानो बेलगाम हो उठी। बाणों के जवाब में बाण की तरह बातों पर बातें बरसने लगीं और उनकी टकराहट से चिनगारियाँ निकलने लगीं।

× × ×

गोरा के सामने मानो बराबर एक विरोधी पक्ष रहता था जिससे वह बराबर लड़ता रहता था।

—ये तमाम उद्धरण उपन्यास के आख्याता के उन सैकड़ों कथनों के थोड़े से निदर्श हैं, जो उपन्यास की अतिवचनात्मक या अतिविमर्शात्मक (हाइपर-डिसकर्सिव) अतिवाकोपवाक्धर्मी (हाइपर-डॉयलॉजिकल) और नियुद्ध के स्तर तक उठी खण्डनात्मक (गेगंनिस्टिक) संरचना की ओर संकेत करते हैं। लगभग पूरे समय गोरा, विनय, सुचरिता, ललिता, हारान बाबू, परेश बाबू, महिम, कृष्णदयाल, आनन्दमयी, हरीमोहिनी आदि विभिन्न पात्रों के बीच यह परिसंवाद जारी है स्थान और तात्कालिक सन्दर्भ बदलते रहते हैं, संवादियों की संख्या घटती-बढ़ती रहती है, पर संवाद जारी रहता है। धर्म, समाज, जाति, सम्प्रदाय, देश, नारी-प्रकृति, नर-नारी सम्बन्ध, विवाह, आचार, स्वतन्त्रता, न्याय आदि और इनसे जुड़े विभिन्न प्रश्न कभी तात्कालिक मुद्दे के रूप में कभी सन्दर्भ के रूप में इस परिसंवाद के वातावरण और प्रभामण्डल की रचना करते हैं।

लेकिन इन प्रश्नों की गम्भीरता और व्यापकता से अधिक महत्त्वपूर्ण—जैसा कि हमने संकेत किया—इस उपन्यास की वह अति-वचन-प्रवणता है जिसके चलते हम इसकी संरचना को परिसंवाद की संज्ञा दे रहे हैं। वचन इस उपन्यास में केन्द्रीय है। शब्द, कथन, अभिव्यक्ति की शैली, यहाँ तक कि स्वर-मान यहाँ न केवल विचारों, धारणाओं और विश्वासों को नियन्त्रित, निर्धारित कर सकते हैं, ये घटनाओं के उत्प्रेरक और अधिष्ठान भी बन सकते हैं। यह नहीं कि इस उपन्यास का गल्प रचने में भावनाओं और विचारों का योग नहीं है, वह है, लेकिन तभी जबकि ये भावनाएँ और विचार लगातार एक चुनौती की प्रक्रिया में परिष्कृत होती वचन की शक्ति और सौन्दर्य में चरितार्थ हो सके हों। इसके पात्र एक-दूसरे के व्यक्तित्व को भी छू पाते हैं जब वे अपने व्यक्तित्व को वचन की इस शक्ति और सौन्दर्य में चरितार्थ कर पाते हैं। इस वचनात्मकता में भागीदारी की जिस पात्र में जितनी अधिक क्षमता है, इस उपन्यास के गल्प में उसका उतना ही अधिक दखल और विशेषाधिकार है। जो इस भागीदारी में अक्षम हैं वे इस उपन्यास के 'माइनर' पात्र हैं : हरिमोहिनी, वरदासुन्दरी, महिम, कृष्णदयाल आदि। (उपन्यास के अन्त में कृष्णदयाल घटनाक्रम को भी निर्णायक मोड़ देते प्रतीत होते है, उसके

पीछे उनकी व्याखानात्मक क्षमता नहीं, बल्कि एक तथ्य-विशेष पर उनका विशेषाधिकार है।) गोरा एक मात्र ऐसा पात्र है जिसमें इस वचनात्मकता में न केवल भागीदारी की सबसे अधिक क्षमता है बल्कि जो एक विशेषज्ञ और कुशल खिलाड़ी (या योद्धा) की तरह इस वचनात्मकता की सन्तुलित ढंग से बरतना जानता है : लगभग एक साहित्यिक व्याख्याकार या काव्यशास्त्री जैसी अधिकारिकता के साथ बोलते हुए वह कहता है : ''कान देकर जितना सुना जा सकता है उतना ही सुनता हूँ। उससे अधिक सुनने की कोशिश करने में गलत सुनने की आशंका रहती है।'' हम कह सकते है कि गोरा के नायकत्व में इस क्षमता और कुशलता का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

अस्मिता को एक विषय के रूप में केन्द्रीकृत करती इस तरह की वचनात्मकता के पीछे एक अन्तरविषयी अस्मित (इण्टरसब्जेक्टिव आइडण्टिटि) की महत्त्वाकांक्षा हो सकती है। परस्पर संवाद और सम्प्रेषण की प्रक्रिया में एक ऐसी अस्मिताा की उपलब्धि को महत्त्वाकांक्षा जिसमें तमाम संवादियों की साझेदारी हो। यह एक ऐसे समाज की महत्त्वकांक्षा हो सकती है जो अस्मिता के ऐसे किसी पारम्परिक दाय से वंचित हो जो उस स्वभाव के सारे लोगों को आध्यात्मिक और भावनात्मक स्तर पर जोड़े रख सके। वह एक ऐसे समाज की महत्त्वाकांक्षा हो सकती है जिसने अपनी सामाजिकता को पूरी तरह खो दिया हो या जिसके पास एक-दूसरे से भय और इस भय से उत्पन्न हिंसा के अलावा संगठित होने का कोई आधार और अवसर न रह गया हो। मसलन हमारे उत्तरआधुनिक कहे जोन वाले समाज का एक बहुत बड़ा हिस्सा इसी तरह के आधार और अवसर की चपेट में आ गया प्रतीत होता है। यह अन्तरविषयी अस्मिता, बदले में, जाहिर है, एक ऐसे विषयी (सब्जेक्ट) की रचना करेगी। जिसे हम संवादमूलक और सम्प्रेषणगोचर विषयी की संज्ञा दे सकते है।—एक तरह का अन्तरविषयी आत्म जो सम्प्रेषण और अन्य के साथ संवाद में सृजित और व्यक्त होगा, वचन-प्रमाणित और संज्ञापन-आश्रित विषयी आत्मविमर्श में सृजित और आन्तरिक तौर पर संवेद्य विषयी नहीं।

यह गोरा की वचनात्मकता की उत्प्रेरक महत्त्वाकांक्षा नहीं है। गोरा का समाज उस तरह दया-वंचित समाज नहीं है। इस समाज की समस्या अस्मिता के पारम्परिक दाय को अपने लिए पुनरुपलब्ध करने की है उसकी समस्या अपनी पारम्परिक पहचान को एक स्वरूप देने की है ताकि वह अपनी उस समकालीन पहचान को एक आधार उपलब्ध करा सके जिसके समक्ष एक विदेशी संस्कृति ने उन्मूलन का ख़तरा उत्पन्न कर दिया है।

हम अच्छे हैं कि बुरे, सभ्य हैं कि असभ्य, इसके बारे में हम किसी को कोई जवाब नहीं देना चाहते...हम केवल सोलह आने वह अनुभव करना चाहते हैं कि हम हम हैं।''

—इस आकांक्षा में आत्मानुभव की ललक भर नहीं है, उसमें यह भी निहित है कि यह आत्मानुभव अवरुद्ध है। यह अवरोध क्या है—'इसके बारे में हम किसी को कोई जवाब' भले न देना चाहें, लेकिन परस्पर जवाबदेही तब भी ज़रूरी है। यह जरूरत ही उस व्याख्या में फलित होती है जिसमें गोरा का समाज उलझा हुआ है और जो उसकी वचनात्मकता की उत्प्रेरक है।

लेकिन, जैसा कि हमने आरम्भ में संकेत किया था इस व्याख्या की कर्मभूमि ऊपरी तौर पर भले ही विचारों और प्रत्ययों तक सीमित हो उसकी कारवाइयाँ इस समाज के जीवन को सीधे प्रभावित करती हैं क्योंकि अपनी जिस पारम्परिक पहचान का स्वरूप इस व्याख्या का विषय है वह महज विचारों और प्रत्ययों तक सीमित न होकर, अपने बिखरे और विवादास्पद रूप में ही सही, इस समाज के दैनन्दिन जीवन में रचा-बसा है। भिन्न शब्दों में कहें तो यह जीवन इस व्याख्या की सम्भावित फलश्रुतियों के प्रति संवेदनशील होने से पूर्व तात्कालिक तौर

पर इस व्याख्या की प्रक्रिया के प्रति संवेदनशील है। और इस जीवन में वे लोग भी शामिल हैं जो इस व्याख्या-कर्म में संलग्न है।

ठीक इस बिन्दु पर हम गोरा में उस नयी जटिलता को लक्ष्य करते हैं जो इस व्याख्या की प्रक्रिया में व्याख्याकार चेतना के रूपान्तरण के नतीजे में उत्पन्न होती है। हम पाते हैं कि गोरा की वचनात्मकता के पीछे यद्यपि वैसी अन्तरविषयी अस्मिता को गढ़ने की महत्त्वाकांक्षा नहीं है, तथापि यह वचनात्मकता या व्याख्याधर्मिता एक लगभग वैसे ही विषयों को गड़ती प्रतीत होती है जिसका जिक्र हमने ऊपर किया है—संवादमूलक और सम्प्रेषगोचर विषयी, एक ऐसा विषयी जिसके आत्मबोध या आत्मपहचान या अस्मिता में जाति, समाज और देश जैसी संकल्पनाओं को अनिवार्य पूर्वापेक्षा है। उपन्यास का नायक गोरा यहाँ एक ऐसे ही विषयी के रूप में उभरता है। वह न केवल दूसरों को अपने समाज, स्वदेश और स्वजाति की रोशनी में देखता चाहता है बल्कि आत्मविमर्श और आत्मपहचान की सर्वाधिक क्षमताओं के बावजूद वह स्वयं भी अपनी प्रायोगिक क्षमताओं के साथ इसी रोशनी में प्रकाशित होता है। उसे 'धर्म के नित्य पक्ष' का बोध है लेकिन उसकी अपनी धार्मिकता धर्म के उस 'लौकिक पक्ष' में ही प्रकाशित है जहाँ धर्म स्वयं 'समाज के नियमों में प्रकाशित' होता है। और हम पाते हैं कि जाति, समाज और देश का यह आत्यन्तिक आग्रह कुछ-कुछ वैसी ही अन्तविषयी अस्मिता को वैधीकृत करने लगता है जिसके ऐकान्तिक और अपवर्जक क्षेत्र में उन लोगों के लिए कोई अवकाश नहीं बचता जो किसी भी स्तर पर अपने साथ संवाद में ही स्वयं को पहचान पाते हैं। आनन्दमयी, परेश और विनय अलग-अलग तरह से ऐसी ही वंचना के उदाहरण हैं। इस जटिलता का सबसे सघन रूप तब प्रकट होता है जब स्वयं गोरा इस स्थिति का शिकार होता है। लेकिन इस बिन्दु पर हम बाद में लौटेंगे, फिलहाल हम एक-दूसरे प्रश्न से उलझने का यत्न करते हैं।

प्रश्न यह है कि एक उपन्यास के रूप में, इस उपन्यास की अपनी खोज क्या है? यानी इसमें चित्रित समाज अस्मिता की जिस आकांक्षा से उद्वेलित है, एक विधा के रूप में इस उपन्यास की भी क्या कोई वैसी आकांक्षा है? इसके सन्दर्भ में जिस परिसंवाद को हमने लक्ष्य किया, उस परिसंवाद के सन्दर्भ में स्वयं इस उपन्यास की क्या स्थिति है? क्या वह इस परिसंवाद का महज एक 'स्थान' या घटना-स्थल है, या वह स्वयं इस परिसंवाद में एक भागीदार है? इन तमाम प्रश्नों के पीछे निहित विश्वास यह है कि ऐसी आत्मचेतना के बगैर कोई भी कृति में विन्यस्त संसार के सन्दर्भ में सर्वाधिक वास्तविक और ठोस वस्तु वह कृति ही होती है—यह कृति ही इस संसार के अधिप्रामाण्य का सबसे पहला और सबसे समृद्ध स्त्रोत होती है। और कोई भी कृति बिना आत्मचेतना के यह वास्तविक और ठोस-रूप, या एक शब्द में कहें तो यह 'कृतित्व', प्राप्त नहीं कर सकती।

कृति की आत्मचेतना के इस विचार की पुष्टि भी लगे हाथ हम उसी निमित्त से कर सकते हैं जिस निमित्त से यह विचार यहाँ उद्धरित हुआ है। गोरा के गल्प की सबसे बड़ी शक्ति इसी बात में है कि वह अपने नायक के समानान्तर एक उपन्यास के रूप में अपनी आत्मपहचान का उद्यम करता है। और उद्यम में वह स्वयं भी लगभग उन्हीं प्रक्रियाओं से गुजरता है जिनसे उसका नायक गोरा गुजरता है। इस उद्यम की पड़ताल से पहले हम उस उपन्यास के आत्म को पहचानने का यत्न करते हैं।

यह ध्यान देने की बात है कि इस निबन्ध के आरम्भ से ही हम गोरा की वचनात्मकता की जिस अधिष्ठात्री संरचना (परिसंवाद) को लक्ष्य कर रहे हैं वह इस उपन्यास के पात्रों द्वारा

गढ़ी संरचना नहीं है—न तो यह परिसंवाद पात्रों ने आयोजित किया है, न ही उन्हें इस बात का कोई बोध है कि वे इस परिसंवाद या वचनात्मक प्रक्रिया में शामिल हैं। यह संरचना इतनी अव्यक्त तो है ही कि हम कह सकते हैं कि उपन्यास के यथार्थवादी किस्म के, अत्यन्त परिचित कालक्रमबद्ध आख्यान के प्रदत्त और व्यक्त ढाँचे में इस संचना की कोई स्मृति नहीं है। और वह इस कदर अव्यक्त संरचना भी नहीं है कि हम उसे अपनी व्याख्या का निरा आरोपण कह सकें। वह वस्तुतः उपन्यास के व्यक्त ढाँचे के ठीक नीचे धड़कती संरचना है जिसका स्रोत उपन्यास के अन्तर्वर्ती जीवन की गति में है—उपन्यास के प्रदत्त ढाँचे और उसके आख्यान के बीच की सन्धि में उत्पन्न और श्लिष्ट उपन्यास आत्म को आकार देती संरचना। इस तरह हम कह सकते हैं कि इस संरचना में अधिष्ठित वचनात्मकता गोरा में चित्रित समाज की आत्मपहचान की हो विधि नहीं बल्कि वह स्वयं इस उपन्यास के लिए भी एक विधा के रूप में अपनी आत्मपहचान की विधि है।

उपन्यास के रूप में अपनी आत्मपहचान के सन्दर्भ में गोरा के समक्ष क्या चुनौती है? गोरा में जो समाज (या जिस समाज का अतीत) चित्रित है वह जिस एक अतिप्रभावी आख्यान के प्रति अत्यन्त संवदेनशील है वह 'इतिहास का आख्यान' है। हम ध्यान दें कि गोरा का लेखन जिस समय (1907-10) में हुआ है। (और उपन्यास के साक्ष्य में जिस समय के सन्दर्भ में वे लेखना हुआ है) वह लगभग वही समय है जब इस देश की आख्यान-परम्पराओं में न केवल इतिहास का आख्यान शामिल हो रहा था बल्कि वह इन आख्यान-परम्पराओं पर अपनी प्रभुता कायम करते हुए उनका उन्मूलन और विरूपण कर रहा था। यह तर्कसम्मत ही था क्योंकि वह उन्हीं उपनिवेशवादी ताकतों के साथ भारत में आया था। जिनके कारण भारतीय समाज के सामने अपनी अस्मिता के उन्मूलन का ख़तरा पैदा हो गया था। एक तरह से यह आख्यान इन ताकतों ने इस औजार के इस्तेमाल से भारतीय समय-चेतना और भारतीय आख्यान-परम्पराओं के साथ किस तरह की हिंसा की, इसका लेखा अनेकविध आख्यानों में (जिनमें ज्यादातर दुर्भाग्यवश इतिहास है) उपलब्ध है फिलहाल उसकी चर्चा अप्रासंगिक है।

हम गोरा की अपनी समस्या की ओर लौटे। जब हम यह कहते हैं कि गोरा में चित्रित समाज इतिहास के आख्यान के प्रति अतिसंवेदनशील है तब इसमें यह संकेत निहित है कि वह भारतीय आख्यान-परम्पराओं में अपनी स्वस्थिति से पहले ही विचलित हो चुका और इतिहास के आख्यान के प्रति अपनी असहकाम्यता (इम्यूनिटि) को खो चुका समाज है। वह अस्मिता के जिस संकट से जूझ रहा है, वह उसके इस विचलन और क्षति का ही लक्षण है। दूसरी ओर स्वयं यह आख्यान-परम्परा इतिहास के आख्यान द्वारा उन्मूलित और विरूपित हो रही है। इस परिप्रेक्ष्य में गोरा की समस्या यह है कि वह किस तरह अपने आख्यात समाज की अस्मिता के संघर्ष को इतिहास के आख्यान की उपनिवेशवादी शैली द्वारा किये जा रहे अपनिरूपण (मिसडॉयग्नॉसिस) के बरअक्स उसे एक ऐसे विन्यास में आयत्त कर सके जहाँ उसके विचलन और क्षति का तथा इन स्थितियों से मुक्त होने के उसके संघर्ष का यथार्थ निरूपण हो सके। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह उद्यम जितना इस समाज के सन्दर्भ में अनिवार्य है उसमें कहीं अधिक वह स्वयं उसकी अपनी अस्मिता के सन्दर्भ में अनिवार्य है।

आशा है, यह बात स्पष्ट होगी कि हम गोरा की समस्या को इतिहास के बरअक्स उपन्यास होने की समस्या के रूप में नहीं बल्कि एक ऐसा उपन्यास होने की समस्या के रूप में चित्रित कर रहे हैं जिसके भीतर सन्दर्भित समाज के इतिहासकृत अपनिरूपण को अनहुआ किया जा सके। इस अपनिरूपण का, यानी इस समाज के बारे में इतिहास के आख्यान का, अत्यन्त

परिष्कृत और सहानुभूति के स्वर से सराबोर साक्ष्य यह है :

'अभिमन्यु व्यूह में केवल घुसना जानता था, उससे निकलना नहीं, हिन्दू ठीक इससे उलटा है। उसके समाज में घुसने का रास्ता बिल्कुल बन्द है, निकलने के रास्ते सैकड़ों-हजारों हैं।'

××× आजकल के ज़माने में उसके लिए, आत्मरक्षा कर सकना प्रतिदिन कठिनतर होता जाता है क्योंकि अब वह और ओट में नहीं रह सकता—अब दुनिया में चारों ओर रास्ते खुल गये हैं, चारों ओर से लोग उस पर चढ़े जा रहे हैं—अब शास्त्र-संहिता के बाँध बनाकर या दीवारें खड़ी करके वह अपने को किसी भी तरह दूसरों के सम्पर्क में अछूता नहीं रख सकता। अब भी अगर हिन्दू समाज अपने भीतर संग्रह करने की शक्ति नहीं जगाता और क्षय रोग को ही प्रक्षय देता चलता है तो बाहर के लोगों का यह अबाध सम्पर्क उसके लिए साङ्घातिक चोट हो जाएगा।'

—सहानुभूति से सराबोर यह स्वर गोरा के ही एक पात्र परेश बाबू का है। वे एक स्वतन्त्रचेता और मननशील व्यक्ति हैं। उनमें अध्यात्मबोध है तथा वे मानवीय भावना और बुद्धि की गहरी समझ रखने और उसका सम्मान करने वाले व्यक्ति हैं। वे ब्राह्म हैं। अगर 'हिन्दू' समाज की अुनदारता को लेकर, अन्दर से उसके बन्द होने को लेकर उनके मन में क्षोभ है, तो अपनी इसी स्वतन्त्रवेता वृत्ति और खुली दृष्टि के कारण वे स्वयं अपने समाज की अनुदारता के भी शिकार हैं। उनकी स्थिति लगभग आनन्दमयी जैसी है। आनन्दमयी में भी हम एक सहज प्रज्ञा और अध्यात्मबोध के साथ-साथ गहरी करुणा का भाव देखते हैं। आनन्दमयी भी अपने इन्हीं गुणों और वृत्तियों के चलते अपने समाज के हाशिये पर हैं। लेकिन दोनों में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर है और यह अन्तर परेश बाबू के उक्त वक्तव्य को समझने का उतना ही महत्त्वपूर्ण परिप्रेक्ष्य भी उपलब्ध कराता है : परेश बाबू जहाँ 'हिन्दू' समाज की उक्त अनुदार, अन्दर से उसके बन्द होने, उसके 'कछुआधर्मी' होने और अन्य को अछूत मानने की कथित स्थिति से क्षुब्ध होकर उसमें उपलब्ध बाहर निकलने की स्वतन्त्रता का उपयोग करते हुए उससे बाहर आ गये हैं, वहीं आनन्दमयी का चुनाव यह नहीं है। प्रश्न यह है कि आनन्दमयी का चुनाव वास्तव में क्या है? अपने समाज से बाहर निकलने के रास्तों को न चुनकर क्या आनन्दमयी ने अन्दर से बन्द इस समाज को चुना है? क्या वे उस समाज के अन्दर कृष्णदयाल, हरिमोहनी, महिम आदि की तरह या अन्य किसी की तरह बन्द हैं? या अपने सहज अध्यात्मबोध, प्रज्ञा और करुणा के साथ वे कहीं और स्थित हैं?

टी.एन. मदन के हवाले से आशीष नन्दी हमें सूचित करते हैं :

> *'हिन्दू' शब्द सबसे पहले मुसलमानों द्वारा उन तमाम भारतीयों को नाम देने के लिए प्रयोग में लाया गया जिन्होंने इस्लाम को स्वीकार नहीं किया था।*[1]

—यानी जिन्होंने इस (भारतीय) समाज से बाहर निकलने के दरवाजे को नहीं चुना था। (यहाँ यह संयोग ध्यातव्य है कि परेश बाबू के वक्तव्य में इसी शब्द—'हिन्दू'—का प्रयोग भी एक बाह्य के द्वारा उन लोगों के लिए किया जा रहा है जिन्होंने ब्राह्म समाज को स्वीकार नहीं किया। बहरहाल) 'दरवाजे' का यह रूपक, जो जाहिर है अपनी व्यंजना में हमें एक बन्द क्षेत्र में ले जाता है, किसकी परिकल्पना है? स्वयं उन लोगों की जिन्हें इस बन्द क्षेत्र में परिकल्पित किया गया है या उनकी जिन्होंने अपनी अस्मिता को एक निश्चित सीमा-रेखा के द्वारा अलगाने के लिए एक प्रति-अस्मिता के तीर पर 'हिन्दू' नामक उस बन्द क्षेत्र की परिकल्पना की? लेकिन यह प्रश्न प्रस्तुत प्रसंग में एक अवान्तर है। प्रासंगिक प्रश्न यह है कि जिन लोगों ने बाहर निकलने के इस या उस दरवाजे को नहीं चुना उन लोगों में शामिल आनन्दमयी जैसे व्यक्तियों

को स्मृति परेश बाबू के वक्तव्य में कहीं है? ज़ाहिर है कि वह कहीं नहीं है और इसीलिए उसमें उस जगह की भी स्मृति नहीं है जहाँ आनन्दमयी जैसे व्यक्तियों का आवास है।

इस आवास की विस्मृति 'इतिहास के आख्यान' का एक अनिवार्य अन्ध-बिन्दु है। विडम्बनात्मक ढंग से यह पॉल डि मान का वह 'अन्धबिन्दु' नहीं है जो किसी अन्तर्दृष्टि में फलित हो सके, इसके विपरीत यह समाज, राष्ट्र, राज्य, सम्प्रदाय जैसी आधुनिक अन्तरविषयी संकल्पनाओं की तीक्ष्ण रोशनी के निरन्तर सम्पर्क में रही दृष्टि के अचानक उस जगह का सामना करने के नतीजे में पैदा हुआ अन्धबिन्दु है जहाँ यह रोशनी नहीं है। इस दृष्टि में पहले यह एक हिन्दू 'समाज' है और फिर अपनी सामाजिकता में क्षीण, अन्य के प्रति अपनी अनुदारता के चलते घुटन-भरा और अन्ततः अपने अन्तर्विरोधी के चलते छीजता हुआ समाज है। हर स्थिति में समाज एक अनिवार्यता है। वह अस्मिता का अनिवार्य सन्दर्भ है। ऐसी भी कोई जगह हो सकती है जहाँ आत्मपहचान के लिए किसी समाजेतर सम्बन्ध की पूर्वपेक्षा हो, जहाँ ये लोग अपनी भौतिक और आध्यात्मिक समृद्धि के साथ स्वाभिमानपूर्वक इस तरह रह सकते हैं कि उनकी आवास-चेतना में समाज महज एक आकस्मिकता हो ऐसी ही किसी जगह से विचलित हो जाने के नतीजे में यह समाज संकटग्रस्त हो—यह सब इस दृष्टि में असम्भव है। इस दृष्टि में भारतीय समाज का संकट उसके 'समाज' यानी उसकी अन्तरविषयिता का आसन्न-विनाश है। गोरा में चित्रित समाज के संकट का, इतिहास का आख्यान द्वारा किया गया यही वह अपनिरूपण है जो इस उपन्यास की अपनी अस्मिता के सन्दर्भ में इसके आख्यान के समक्ष एक चुनौती है। परेश बाबू यदि इतिहास के इस आख्यान के एक निमित्त बनते हैं तो उसका तर्क स्वयं उनकी दुविधापूर्ण समाज-स्पृहा में है।[2]

इस चुनौती का सामना गोरा किस तरह करता है यह देखने के लिए हम फिर उस परिसंवाद की ओर लौटें और इस बार उसकी आन्तरिक संरचना की ओर ध्यान दें। पहली ही दृष्टि में हम पाते हैं इस परिसंवाद का विन्यास उस तरह एकरैखिक और द्विध्रुवीय नहीं है जहाँ पक्ष और प्रतिपक्ष स्पष्टतः विभाजित हों क्योंकि इन संवादियों की अस्मिता का जो सन्दर्भ—'हिन्दुत्व'—यहाँ विवाद का विषय है वह अपनी श्लिष्ट बनावट और बहुविध प्रगटन के चलते इस कदर अस्थिर है कि वह अपनी सीमा में आने वाले हर सन्दर्भी को किसी एक स्थिति में स्थिर नहीं रहने देता। हमारे समक्ष यह प्रश्न होता है कि यह हिन्दुत्व आखिर क्या है। क्या वह कृष्णदयाल और हरिमोहिनी की तरह का नितान्त ऐकान्तिक, स्वकेन्द्रित, आचार-परिमित्त, विचार-निरपेक्ष, हठधर्मी और प्रदत्त आवरण मात्र है? या महिम की तरह की महज एक अस्मिता व्यंजक 'संज्ञा'? क्या वह विनय की तरह का एक वियोज्य, परिहार्य और अपनी वैयक्तिक-भावनात्मक स्वतन्त्रता जैसी वस्तु से विनिमेय मूल्य है? या आनन्दमयी की तरह का अपनी सामाजिक अस्मिता के न्यूनीकरण की कीमत पर एक नितान्त एकाकी और निजी मूल्य में परिवर्तनीय तथा ममत्व, प्रेम, वात्सल्य, करुणा और निजी उत्तरदायित्व जैसे मानवीय रूपों में यह हिन्दुत्व अपने सन्दर्भियों को परस्पर विवादी बनाता हुआ भी उन्हें इस तरह समरूपता उपलब्ध कराता है कि वे सब हिन्दू हैं : वे सब तो, वही ही जो इस संज्ञा से अभिहित हैं, जिन्हें गर्व है कि वे हिन्दू हैं, वे ब्राह्म भी विडम्बनापूर्ण ढंग से हिन्दू ही हैं (जिन्हें गर्व है कि वे हिन्दू नहीं हैं) क्योंकि न केवल उनकी कोई अस्तिव्यंजक (पॉज़ीटिव) अस्मिता नहीं है (जैसी कि मसलन मुसलमानों और ईसाइयों की है) बल्कि उनकी निषेधात्मक अस्मिता ('ब्रह्म' जिसका संज्ञापक पद भर है) का अनिवार्य सन्दर्भ भी हिन्दुतव ही है। या फिर वे सब हिन्दू नहीं हैं : वे तो नहीं ही हैं जो संस्थात्मक रूप से 'हिन्दू नहीं' हैं (यानी जो ब्राह्म हैं), वे हिन्दू भी विडम्बनापूर्ण ढंग से हिन्दू

नहीं हैं जो इस संज्ञा से अभिहित हैं क्योंकि उनका हिन्दुत्व न केवल विषम है बल्कि विवादी और परस्पर अपवर्जक है। दोनों ही स्थितियाँ इस परिसंवाद को एक ऐसा बहुध्रुवीय विन्यास प्रदान करती हैं जिसमें सारे ध्रुव एक साथ विवादी और समरूप हैं।

हम कह सकते हैं कि ये एक ही आत्म ही विखण्डित इकाइयाँ हैं और, जैसाकि हमने अन्यत्र संकेत दिया है कि यह उपन्यास का अपना आत्म है, हमें यह भी लग सकता है कि यह आत्म अपने विखण्डन से उपलब्ध अनेक विषयिता (पॉलीसब्जेक्टिविटी) को परिसंवाद की इस संरचना में विन्यस्त कर वचनात्मक विधि से एक अन्तरविषयी अस्मिता प्रस्तावित कर रहा है। लेकिन वस्तुतः यह सही नहीं है। इसके विपरीत यह परिसंवाद वचनात्मकता और अन्तरविषयिता में मूलबद्ध उस अन्तर्विरोध को उजागर करने के निमित्त किया गया अनुष्ठान है जहाँ ये दोनों एक 'यूटोपिया' साबित होती हैं। अपनी विषमता के साथ उनके समक्रमिक रूप से 'हिन्दू होने' और 'हिन्दू न होने' की जिन परिस्थितियों का हमने उल्लेख किया उन दोनों ही परिस्थितियों में यह तथ्य रेखांकित करने योग्य है कि इस परिसंवाद के भागीदारों का 'हिन्दू होना' और 'हिन्दू न होना' दोनों ही निर्विवाद नहीं है। इस तरह ये दोनों स्थितियाँ मिलकर वस्तुतः उनकी अस्मिता के सन्दर्भ को विवादास्पद बनाती हैं। अगर फ्रांसीसी चिन्तक ज्याँ फ्रान्सुआ लियोतार की अवधारणा के सहारे कहें तो यह हिन्दुत्व 'डिफरेण्ड' की हालत में है : वह परस्पर विरोधी प्रमाणों के अधीन है। जो लोग इस हिन्दुत्व को अपने संवेदनों में अनुभव करते हैं (जैसे कि आनन्दमयी) वे अपने इस अनुभूति को इस हिन्दुत्व के स्थापित संज्ञापनों (आचारों) से न सिर्फ प्रमाणित नहीं कर सकते बल्कि उस अनुभूति की रक्षा के लिए ही मानो वे उन संज्ञापनों के विरुद्ध जाने को विवश हैं, और जो अपने हिन्दुत्व को अपने आचारों (संज्ञापनों) में ही व्यक्त करते हैं (जैसे कि कृष्णदयाल और हरिमोहिनी) वे संवेदन के स्तर पर भोथरे तो हैं ही, अपने आचारों की रक्षा के लिए ही मानो वे उन संवेदनों के विरुद्ध चले गये हैं। दोनों ही परिस्थितियाँ जिसे अप्रमाणित करती हैं वह यह हिन्दुत्व है जो इन संवादियों की अस्मिता का सन्दर्भ होने के नाते इनकी अस्मिता के अप्रमाणीकरण में फलित होता है। गोरा इस तरह परिसंवाद की इस विधि के माध्यम से हमारा साक्षात्कार अन्तरविषयिता के मर्म में पैठे 'अस्मिता की अस्मिता' के इस संकट से कराता है।

इस संकट की छूत, ज़ाहिर है, केवल उसे लग सकती है जो इस संकटापन्न हिन्दुत्व के संसग में हैं, उसे नहीं जो इस स्थिति से अनभिक्ष या निरपेक्ष है और जिसने इसे स्वीकर कर इस हिन्दुत्व के संवेदन-प्रमाणित या संज्ञापन-प्रमाणित संस्करण के समक्ष समर्पण कर दिया है। इस बिन्दु पर हम गोरा को उपन्यास के ऐसे एकमात्र पात्र के रूप में पहचानते हैं जो इस संकट की सर्वाधिक चपेट में है। गोरा की समस्या यह नहीं है कि वह निजी तौर पर अपनी अस्मिता को हिन्दुत्व के उपलब्ध संस्करणों में से किस संस्करण के अनुरूप किस तरह स्थिर करे, उसकी समस्या इन संस्करणों के हाथों निरन्तर अस्थिर और धुँधले होते हिन्दुत्व को स्थिर और स्पष्ट करने की है। उसके लिए यह 'निजी' अस्मिता का नहीं 'जातीय' अस्मिता का प्रश्न है। यह इसी का प्रमाण और परिणाम है कि इस जातीय अस्मिता की ख़तिर जिन विधि-निषेधों का वह सार्वजनिक तौर पर कट्टर हिमायती है उसी की रक्षा या पुनर्गठन के अपने अभियान में वह उन विधिनिषेधों का उल्लंघन तक करने को तैयार हो जाता है। जिसे शुचिता की मर्यादा का उल्लंघन इस हद तक असह्य है कि घर में 'ख्रिस्तान' नौकरानी के होने से वह अपनी माँ की रसोई में खाना नहीं खाता, वही गोरा बंगाल के गाँव की अपनी यात्रा के दौरान ब्राह्मण के घर का भोजन त्यागकर, एक मुस्लिम बच्चे का पालन-पोषण करते नाई के

घर बेहिचक शरण लेने को तैयार हो जाता और उसके घर में उसी के दिये अन्न को राँध कर खाता है। उसके इस विद्रोह के पीछे जो विवेक सक्रिय है, वह उल्लेखनीय है :

पवित्रता को बाहर की चीज बना देकर भारत वर्ष में हम यह कितना भयंकर अधर्म कर रहे हैं। जो आदमी जानबूझकर फ़साद खड़ा करके इन मुसलमानों पर जुल्म कर रहा है उसके घर में मेरी जाति बनी रहेगी और जो उस जुल्म की सहता हुआ मुसलमान के बच्चे की रक्षा कर रहा है और समाज की निन्दा सहने को तैयार है उसके घर में मेरी जाति चली जाएगी?

(गोरा नहीं जानता कि अपनी माँ के साथ शुचिता के मामले में उसके व्यवहार के सन्दर्भ में उसका यह विवेक और विद्रोह स्वयं उस पर कितनी मार्मिक विडम्बना से भरी टिप्पणी है।)

पवित्रता के इस कर्मकाण्ड के विवेक से अनुप्राणित होने के बावजूद गोरा यदि इस विवेक का एक सुधारवादी नारे में नहीं बदलना चाहता तो इसलिए कि वह स्वयं इस विवेक के उस कर्मकाण्डवाद के प्रति भी समान रूप से सजग और विद्रोहशील है जहाँ यह पवित्रता अपने बाह्यवर्ती या कर्मकाण्डी रूप में तो तिरस्करणीय है ही, एक संवेदनात्मक सत्ता के रूप में भी उससे चुपचाप छुटकारा पा लिया जा सकता है। उसके समक्ष दोनों ही तरह के कर्मकाण्डवाद की हिंसाएँ स्पष्ट हैं। पवित्रता को एक आन्तरिक बोध, एक संवेदनात्मक मूल्य के रूप में जीने वाले परेश बाबू और आनन्दमयी जैसे लोगों का उत्पीड़न इन्हीं हिंसाओं का साक्ष्य है। अगर आनन्दमयी पहली तरह के कर्मकाण्डवाद की हिंसा की शिकार है तो परेश बाबू दूसरी तरह के कर्मकाण्डवाद की हिंसा के।

यही कारण है कि अपने उक्त विवेक और तज्जन्य विद्रोह के बावजूद गोरा पवित्रता के इस कर्मकाण्ड को जैसे एक अन्तिम सूत्र की तरह थामें रहता है। उसके लिए यह निरा कर्मकाण्ड या उस आन्तरिक सत्ता से विच्छिन्न कोई चीज न होकर इस सत्ता का ही एक बाह्य सूत्र है। उसे इस कर्मकाण्ड की कुछ-कुछ वही अर्थवत्ता है जैसी रामचन्द्र गाँधी के लिए उस 'रूढ़ि' की जिसके बारे में वे कहते हैं कि 'थोड़ा टेढ़ा ही सही, लेकिन सहज सत्य तक पहुँचने का रास्ता आज भी हमें रूढ़ि ही बता सकती है।'[3] अपनी माँ के आचार-विचलन से रुष्ट गोरा भी कहता है कि 'माँ किसे कहते हैं,, यह मैं जानता हूँ। उसे मुझे याद दिलाने की ज़रूरत नहीं है।...किन्तु आचार को न मानना शुरू करूँ तो शायद एक दिन माँ को भी नहीं मानूँगा'।

गोरा के इस कथन की निर्दोषिता, सहजता और सरलता स्पृहणीय है लेकिन इसे उसकी विडम्बना ही कहना चाहिए कि उसका यह कथन इस कथन में ही निहित सत्य को अत्यन्त वध्य स्थिति में ला खड़ा करता है। आचार (एक बाह्य या संज्ञापक सत्ता) को अपनी आस्था (एक आन्तरिक या सांवेदनिक सत्ता) के आधर-प्रमाण की तरह व्याख्यायित करते हुए गोरा उसे अर्थ के जिस उदात्त, मूलग्राही या निरुक्तीय स्तर पर प्रतिष्ठित करता है उसे उस स्तर पर साधना जितना गोरा के सन्दर्भ में सच है, उसके आचारनिष्ठ समाज के सन्दर्भ में वह उतना ही झूठ है। गोरा के कथन से होने वाली आचार की निरुपाधि प्रतिष्ठा कृष्णदयाल और हरिमोहनी जैसे लागों के सांवेदनिक खोखलेपन को झुठलाने की युक्ति उपलब्ध कराती है। हम उलटकर यह भी पूछ सकते हैं खुद गोरा का 'माँ को मानना' ही कितना आचार-सिद्ध है? सच यह है कि सांवेदनिक तौर पर वह जिन लोगों (आनन्दमयी, विनय, सुचरिता, परेश बाबू आदि) से जितना आकर्षित है, आचारतः उनसे उतना ही दूर है या होता जाता है।

सुचरिता के प्रति अपने प्रबल प्रेमाकर्षण की एक लगभग सुचिन्तित अलगाव में अभिव्यक्ति और उससे पूर्व विनय के विवाह के प्रसंग में यह स्थिति पराकाष्ठा पर पहुँचती है जब गोरा

अपनी आचारनिष्ठता के चलते अपने इस अन्तरंग सखा के जीवन के इन अत्यन्त आत्मीय क्षणों में—ऐसे क्षणों में जबकि सखा की निकटता ही सबसे अधिक वांछनीय होती है—विनय के साथ उतना ही अधिक निर्मम दूरी बना लेता है। इन प्रसंगों को उद्धरित करते हुए हम सुचरिता और विनय के नहीं गोरा के उत्पीड़न की ओर ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं।

इस तरह गोरा की (और अन्ततः कुल स्थिति की) यह विडम्बना है कि अपने 'समाज' की अस्मिता की धुँधलाते और दूषित करते संवेदना और संज्ञापन (आचार) के बीच के परस्पर अपवर्जक विभाजन को अनछुआ करने की अपनी प्रतिज्ञा और उद्यम को गोरा जितना सघन बनाता जाता है उतनी ही सघतना के साथ यह विभाजन स्वयं उसके जीवन में संक्रमित होकर उसकी अपनी अस्मिता को एक पीड़ादायी धुँधलके से भरता जाता है। यही नहीं बल्कि इस संक्रमण का शिकार होकर मानो वह उस विभाजन और उसे अनहुआ करने के उद्यम की विफलता के वैधीकरण का जीता-जागता प्रमाण और आधार बन जाता है। विनय के अगाध स्नेह, आनन्दमयी के अनन्य ममत्व और सुचरिता के एकनिष्ठ प्रेम के आलम्बन की अपनी स्थिति से अपसरण कर वह अपनी अस्मिता का सांवेदनिक आलम्बन खो देता है और अन्ततः सिर्फ सांवेदनिक ही नहीं बल्कि इस सांवेदनिक आलम्बन की कीमत पर हिन्दुत्व के जिस संज्ञानात्मक आलम्बन को वह निरन्तर थामे रहा था वह आलम्बन भी उससे छिन जाता है जब उपन्यास के लगभग अन्त में कृष्णदयाल उसे अपनी शुचिता के लिए आयोजित प्रायश्चित के अनुष्ठान के अधिकार में वंचित कर देते हैं। यह पहला अवसर है जब गोरा इस संज्ञापनात्मक आलम्बन का अपने लिए 'संस्थात्मक' स्तर पर 'दावा' करता है और पाता है कि यह दरवाजा उसके लिए बन्द है।

क्या गोरा के अपने व्यक्तित्व में ऐसी निर्वैयक्तिक और औदात्य मौजूद था जिसकी इस संस्थात्मक आलम्बन के साथ मैत्री बैठ सकती? अपने प्रति गोरा की उदासीनता, अपने सुख-दुःख से सम्बन्ध रखने वाली भावनाओं के प्रति उसकी नियन्त्रण क्षमता, यहाँ कि अपने प्रेम और ममत्व का उत्सर्ग कर सकने की तैयारी जैसी चीजें उक्त प्रश्न का सकारात्मक उत्तर प्रस्तुत करती हैं। हमें लगता है कि इस निर्वैयक्तिक और उदात्त जीवन-आदर्श में, अस्मिता की एक वृहत्तर छवि में उसने स्वयं को इस कदर लय कर लिया है कि वह स्वयं एक निःस्व जीवन जी रहा है। और तब हमें यह एहसास भी कहीं-न-कहीं सालता रह सकता है कि यदि इस उत्सर्ग के बावजूद गोरा उत्पीड़ित है तो यह क्या इस आदर्श को अपने जीवन में उतारने की प्रतिज्ञा की एक अनिवार्य विडम्बनात्मक परिणति है? लेकिन इसी के साथ उसके व्यवहार का एक और महत्त्वपूर्ण पक्ष है जो हमारे इन एहसासों पर सन्देह की छाया डालता रहता है : हम निरन्तर यह अनुभव करते हैं कि अपने प्रेम और ममत्व के उत्सर्ग की इन प्रवृत्तियों को उसने एक ऐसे स्तर पर सामान्यीकृत, सिद्धान्तीकृत और मानकीकृत कर रखा है जहाँ वे दूसरों के सन्दर्भ में हठधर्मिता और मताग्रह में फलित होती हैं। अगर वे उसके सन्दर्भ में उसके अपने स्व से मुक्ति की विधियाँ हैं तो दूसरों के सन्दर्भ में वे उनके अपने स्व से निष्कासन की व्यवस्था की तरह प्रगट होती लगती है। और तन्त्र हम पलटकर स्वयं गोरा के सन्दर्भ में, इस संशय के साथ इनका पुनरावलोकन करते हैं कि कहीं उसके लिए भी तो ये अपने बलात् स्वनिग्रह की ही युक्तियाँ तो नहीं है।

हमारे इसी संशय को तब बल मिलता है जय कृष्णदयाल द्वारा आरोपित उक्त वर्जना के सामने गोरा की यह हताशा प्रगट होती है।

...उसे ऐसा लगने लगा मानो कोई एक साथ ही सभी ओर से ठेलकर उसे दूर फेंक

देना चाहता हो, अपना अकेलापन उसे आज बहुत बड़ा होकर दीखने लगा...।

—क्या यह एक सम्पूर्णतः निःस्व को चुके व्यक्ति का अनुभव है? या एक ऐसे व्यक्ति का अनुभव जिसने अपने स्वत्व के प्रश्न को अपने गहरे अवचेतन से ऊपर आने और उसकी सम्पूर्ण व्याप्ति में उसका सामना करने का अवकाश ही कभी नहीं रचा? गोरा के 'प्रायश्चित' का दरवाज़ा बन्द करते हुए कृष्णदयाल मानो वह दरवाज़ा खोल देते हैं जिसके पार घने अँधेरे में उसके स्वत्व का यह प्रश्न धड़क रहा है। गोरा जैसे कर्मयोगी के लिए अपने स्वत्व के इस अनुदात्त और बद्धमूल प्रश्न से बड़ी अशौच की क्या स्थिति हो सकती थी? अशौच की नितान्त बाह्य स्थितियों का, नितान्त आचारमूलक दोषों का पमिार्जन करने गोरा शुचिता और प्रायश्चित का जो अनुष्ठान करने जा रहा था, कृष्णदयाल उस अनुष्ठान पर रोक लगाकर अनायास ही उसे अशौच की इस आन्तरिक स्थिति के प्रति सजग बनाकर शुचिता के एक आन्तरिक अनुष्ठान की अनिवार्यता के सामने ला खड़ा करते हैं। और यह एक आत्यन्तिक महत्त्व का संयोग है कि उसे आत्मशुद्धि की इस अनिवार्यता और आचार-परिमित 'हिन्दू' है। लेकिन यह संयोग नहीं है—और यह तुलनात्मक रूप से अधिक महत्त्व रखता है—कि यह व्यक्ति गोरा का धर्मपिता है।

अगर हम गोरा को सन्देश का पूरा लाभ प्रदान करें तब भी इस बिन्दु पर इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि उसने न केवल 'अपने' स्वत्व के बल्कि स्तत्व मात्र के प्रश्न को कभी भी अपेक्षित महत्त्व नहीं दिया। उसने कभी यह नहीं सोचा कि आत्मसाक्षात्कार, आत्मविमर्श और आत्मशोध की प्रक्रिया से गुज़रे बग़ैर, अपने स्वत्व का एकाग्र सामना और उससे मुठभेड़ किये बगैर इस स्वत्व का वह उदात्त रूप हासिल करना या उस सम्पूर्ण निःस्वत्व को प्राप्त करना असम्भव है जो समाज, देश, जाति जैसी अन्तरविषयी अस्मिता के यूटोपिया के लिए नहीं बल्कि यथार्थ रूप में उसकी उपलब्धि के लिए अनिवार्य है। वह जैसे यह मानकर चलता रहा इस अन्तरविषयी अस्मिता की उपलब्धि के लिए संवाद, विमर्श और परिष्कार की जिस अन्योन्याश्रित प्रक्रिया में वह शामिल है उसमें उसका स्वत्व खुद-ब-खुद लय हो गया है (और इसीलिए दूसरों के स्वत्व को भी इसी तरह उसमें लय हो जाना चाहिए)।

बहरहाल, अनजाने ही, कृष्णदयाल गोरा के अन्तस् का वह दरवाज़ा खोलते हैं जहाँ वह पाता है कि :

नहीं कल नहीं आज ही से मेरा प्रायश्चित आरम्भ हो गया है। कल जो आग जलेगी उससे बड़ी आग-आज जल रही है। अपने नये जीवन के आरम्भ में मुझे कोई बहुत बड़ी आहुति देनी होगी।×××कल सबेरे लोगों के सामने मेरा लौकिक प्रायश्चित होगा, उससे एक रात पहले ही मेरे जीवन-विधाता (एक श्लिष्ट अर्थ में ये 'जीवन-विधाता' क्या स्वयं कृष्णदयाल नहीं हैं?) आकर मेरा द्वार खटखटा रहे हैं—अपने अन्तर के भीतर ही अन्तरतम् प्रायश्चित किये बिना कल मैं क्या शुद्धि कर सकूँगा? जो दान मेरे लिए सबसे कठिन दान है, वहाँ आज सम्पूर्णतया देवता को अर्पित करके ही मैं सच्चे और पवित्र रूप में निःस्व हो सकूँगा—तभी मैं ब्राह्मण हूँगा।

इस तरह गोरा अस्मिता की आत्मविमर्शात्मक प्रक्रिया का पहली बार चरण करता है। यह नहीं कि वह अस्मिता की अन्तरविषयी प्रक्रिया से—संवाद विमर्श और परिष्कार की अन्योन्याश्रित प्रक्रिया से—निरपेक्ष हो जाता है, वह सिर्फ अपना प्रस्थान बदलता है। उसका हिन्दू होना, एक ब्राह्मण कुल में उसका पैदा होना और इस नाते एक विशेष आचार-व्यवस्था का अंग होना आदि प्रदत्त वस्तुएँ जो अब तक उसकी (निजी और जातीय) अस्मिता के प्रमुख संगटक थे, इस नये प्रस्थान पर एकाएक गौण हो जाते हैं। इस नये प्रस्थान पर वह पहली

बार अस्मिता के एक ऐसे संगटक की प्राथमिकता का अनुभव करता है जो पूरी तरह उसके आत्मशोध पर निर्भर है।

इस बिन्दु पर, हम कह सकते हैं कि, परिसंवाद सम्पन्न होता है।

लेकिन इस परिसंवाद का 'हेंगओवर' क्या अभी भी बना हुआ नहीं है? क्या अभी भी गोरा अस्मिता के प्रदत्त बाह्य और संज्ञापनधर्मी संकटों से पूरी तरह छुटकारा पा सकता है? निःस्व होना न तो मर जाना है, न अपनी पहचान को दफ्न कर देना है, वह अपनी पहचान के संज्ञापक घटकों को भुला देना, मिटा देना या किन्हीं निरपेक्ष संज्ञापनों में छुपा देना भी नहीं है। निःस्व होना, वस्तुत : अपने स्वत्व को तत्वतः जानना है जिसके लिए इस स्वत्व को विच्छेदन, विखण्डन, विरचना या अन्तहीन अपोहन की एक ऐसी प्रक्रिया में झोंकना जरूरी है जहाँ उसके संगटों को उनकी प्रातिभासिकता या प्रतीयमानता में पहचाना जा सके। इस परिप्रेक्ष्य में हम पूछ सकते हैं कि क्या उपरोक्त उद्धरण में व्यक्त 'सच्चे और पवित्र रूप में निःस्व हो सकने' का गोरा का सकंल्प अपनी पूर्णता के प्रति प्रवण या संवेदनशील है? इस प्रश्न का उत्तर उद्धरण के अन्तिम शब्द नकारात्मक ढंग से देते हैं। 'तभी मैं ब्राह्मण हूँगा।'

निश्चित ही ब्राह्मण होने की यह शर्त उल्लेखनीय है मानो इस तथ्य को जानने से पहले ही कि वह ब्राह्मण-पुत्र नहीं है, ब्राह्मणत्व की इस शर्त में गोरा इस तथ्य को अपने सन्दर्भ में निष्प्रभावी मना लेता है। लेकिन इसके बावजूद कि वह अपने लिए ब्राह्मणत्व को उसके वर्णगत अर्थ से, 'ब्राह्मणोअस्य मुखमासीत' के रूढ़ार्थ से, उसके आचार रूढ़ अर्थ में मुक्त और एक आध्यात्मिक अर्थ में उदात्तीकृत कर लेता है, इस संज्ञा (ब्राह्मण) को वह एक सहारे की तरह थामे रखना चाहता है। मेरा जोर 'ब्राह्मण' संज्ञा पर नहीं बल्कि इस बात पर है कि निःस्व हो सकने की अपनी चरम आंकाक्षा के क्षणों में भी वह संज्ञा के व्यामोह में बँधा रहता है। वह यह नहीं देख पाता कि जिस स्वत्व के बोझ से वह मुक्त होना चाहता है वह संज्ञाओं की ही निर्मिति है। स्वत्व में जो भार है वह संज्ञा की स्पृहा से है और इसीलिए निःस्व होना संज्ञा के अपरिग्रह से, उसके प्रति निस्पृह होने से, ही सम्भव है, सिर्फ संज्ञा को रूढ़िमुक्त करने में नहीं (गोरा उपरोक्त उद्धरण में 'ब्राह्मण' शब्द को परिष्कृत कर उसे जो नया अर्थ देता है वह 'ब्राह्म' शब्द के उस अर्थ के निकटतम है जिसकी दुर्गति हम इसी उपन्यास में होती देखते हैं)। गोरा अपने स्वत्व को 'सम्पूर्णतया देवता को अर्पित करने' की अपनी चरम आकांक्षा के क्षण में यह नहीं सोच पाता कि इस संज्ञा को बचाये रखने में वह इस दान की काम्य पूर्णता को खण्डित कर रहा है। दान के क्षण में प्रतिदान की यह अतिसूक्ष्म और परिष्कृत वासना स्वयं ब्राह्मणत्व के उस अर्थ को पुनः दूषित करती है जिस अर्थ को गोरा अपने आत्मशोध से उपलब्ध करता है।

परिसंवाद पहले ही सामाप्त हो चुका है और अब यह वह जगह है जहाँ आत्मसंवाद भी अपनी सीमा के साथ प्रगट होता है। ठीक इस बिन्दु पर हम एक बार फिर उपन्यास को प्रकट होते देखते हैं। हम देखते हैं कि संज्ञा के इस व्यामोह से वास्तविक छुटकारा गोरा को उस क्षण मिलता है जब वह आत्मसाक्षात्कार के एक सर्वथा अपारम्परिक, सर्वथा अप्रत्याशित और—यह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है कि—एक औपन्यासिक दरवाजे के भीतर धकेल दिया जाता है, जब उसे यह सूचना भी फिर कृष्णदयाल ही देते हैं कि वह न केवल जन्मना ब्राह्मण नहीं है बल्कि एक आइरिश की सन्तान है। इस सूचना के दौरान कृष्णदयाल जब उसे उसके पिता का 'नाम' बताना चाहते हैं तब गोरा क्या कहता है?

'रहने दीजिए, उनका नाम मैं नहीं जानना चाहता।'

गोरा इस दरवाजे के भीतर प्रवेश कर अपने स्वत्व को एक ऐसी प्रक्रिया में पहचानता है जहाँ इस स्वत्व के सारे घटक नदारद हैं। 'माँ, बाप, देश, जाति, नाम, गोत्र, देवता' सब कुछ, मानो वह एक सम्पूर्ण नकार है' (यह उचित ही है कि इन तमाम नामों की अपदार्थता के बोध के लिए गोरा को एक औपन्यासिक दरवाजे के भीतर ले जाया जाता है—एक ऐसा दरवाजा जिसके भीतर सारे नाम गल्प हैं, इतिहास के उस दरवाजे के बरअक्स जहाँ इन सारे नामों की गल्पधर्मिता को यथार्थ के ईंट-गारे की तरह बरतते हुए उनसे अस्मिता के कारावास गढ़े जाते हैं)। इस 'सम्पूर्ण नकार' में रूपायित होती अस्मिता के लिए गोरा की चेतना में उभरता यह रूपक दृष्टव्य है :

'मानो वह इसी एक क्षेण की कमल पंखुड़ी में ओस की बूँद सा काँप रहा हो।'

निश्चय ही इस अनुभूति में पूरी तरह निरवलम्ब हो जाने की एक चरम असहायता और असह्यता है लेकिन इसी के साथ उसमें एक लाघव भी है, समूचे बोझ में एकाएक छुटकारा पाने के बाद का हल्कापन—इस कदर हल्कापन कि अनभ्यस्ति के कारण वह असह्य है, मिलान कुन्देरा के शब्दों में 'अन्येअरेंबेंल लाइटनेस ऑव् बीइंग'। यह अकारण नहीं कि इस अप्रत्याशित झटके से गुजरने के बाद गोरा जब प्रकृतिस्थ होता है तो यह 'लाइटनेस ऑव् बीइंग' उसे न केवल 'अनलबेअँरेबेंल' नहीं रह जाती बल्कि वह मुक्ति का अनुभव करता है : 'आज मैं मुक्त हूँ, परेश बाबू।'—वह कहता है।

लेकिन इसी के साथ गोरा यह भी कहता है कि 'मैं हिन्दू नहीं हूँ।' इन दोनों वक्तव्यों में एक ऐसी तार्किक संगति प्रतीत होती है मानो वे एक ही वाक्य ('मैं हिन्दू नहीं हूँ इसीलिए आज मैं मुक्त हूँ') के दो खण्ड हों। क्या यह तार्किक सगंति इस बात में हैं कि इस तथ्य का पता लगने के नाते कि वह हिन्दू नहीं है, गोरा मुक्ति का अनुभव करता है? क्या गोरा का यह कथन कि 'मैं हिन्दू नहीं हूँ' महज एक तथ्य की अभिव्यक्ति है या इस तथ्य के औपचारिक प्रस्थान से इसका अतिक्रमण कर अपने अर्थ में स्वायत्त होती एक अभिव्यक्ति है? यहाँ गोरा के बारे में आशीष नन्दी की टिप्पणी उल्लेखनीय है। टी. एन. मदन के हवाले से यह सूचना देने के बाद कि 'हिन्दू' शब्द का प्रथम प्रयोग मुसलमानों ने उन तमाम भारतीयों को नाम देने के लिए किया था जिन्होंने इस्लाम हो स्वीकार नहीं किया था, आशीष नन्दी कहते हैं :

इस तरह इस अभिव्यक्ति (हिन्दू) में ही यह अन्तर्विरोध सन्निहित है : स्वयं को परिभाषित करने के लिए 'हिन्दू' पद का प्रयोग करना हिन्दू की पारम्परिक स्वपरिभाषा का अनादर करना है, और अपने हिन्दुत्व का .....पूर्ण दावा करना लगभग अपने 'हिन्दुत्व' को नकारना है। (रवींद्रनाथ ठाकुर का उपन्यास 'गोरा'...इस समझौते की प्रकृति और उसमें मूलबद्ध भारतीय मध्यवर्ग की सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक दुविधा का प्रामाणिक अध्यनन है।)[4]

श्री नन्दी की इस टिप्पणी के परिप्रेक्ष्य में गोरा के उक्त कथन की क्या स्थिति बनती हैं? यह ध्यान देने की बात है कि वह एक ऐसे हिन्दू का कथन नहीं है जो 'हिन्दू' शब्द के उपरोक्त अन्तर्विरोध का शिकार रह चुकने के बाद इस अन्तर्विरोध से बाहर आकर अपनी अस्मिता की निषेधात्मक अभिव्यक्ति से खुद को 'हिन्दू' की पारम्परिक स्वपरिभाषा' में स्थित कर रहा हो, यह एक ऐसे व्यक्ति का कथन है जो तथ्यतः हिन्दू नहीं है (न इस नाम के परे न इसके भीतर)। इसीलिए वह जिस चीज का शिकार हुआ है वह उपरोक्त अन्तर्विरोध नहीं बल्कि उस अन्तर्विरोध का प्रहसन है। और इसीलिए अब जब वह कहता है कि मैं हिन्दू नहीं हूँ तो यह एक गर्वदीप्त कथन न होकर एक ठण्डे तथ्य का ही बयान है। रवींद्रनाथ ठाकुर इस तथ्य को उस तथ्य के साथ 'जक्स्टापोज' करते हैं जिसकी ओर भी नन्दी ने संकेत किया

है, और इन दोनों तथ्यों की सन्निधि से अस्मिता और अस्मिता के प्रत्ययों के बीच की उस दरार को संवेद्य बनाते हैं। जिसकी संवदेना के अभाव में अस्मिता के प्रत्यय और पद अस्मिता के कारावास बन जाते हैं। रवींद्रनाथ ठाकुर एक प्रहसन को उस इतिहास के साथ 'जक्स्टापोज' करते हैं जिसकी ओर श्री नन्दी ने संकेत किया है, और प्रहसन तथा इतिहास की इस सन्निधि से उपन्यास और इतिहास के आख्यान के बीच की उस दरार को संवेद्य बनाते हैं, जिसकी संवेदना के अभाव में उपन्यास ऐतिहासिक संघटनाओं का निज अभिनय-स्थल प्रतीत होता है—जैसा कि वह श्री नन्दी को प्रतीत होता है।

उपन्यास की लगभग अन्तिम पंक्ति में 'साँझ' को घर लौटकर गोरा ने देखा आनन्दमयी उसके कमरे के सामने बरामदे में चुपचाप बैठी हैं। 'साँझ' और 'घर' और 'लौटना'—इस वाक्य के एक-एक शब्द की ध्वनि-प्रतिध्वनि श्रव्य है। कमरे के जिस बरामदे में आनन्दमयी बैठी हैं वह एक साथ हिन्दुत्व के कमरे का वह बरामदा भी है जो बाहर होते हुए भी घर का हिस्सा है और गोरा के उस कमरे का भी बरामदा है जो अब इस तरह बे-दरों-दीवार हो चुका है कि बरामदा और कमरा अपनी संज्ञाएँ खोकर वह 'जगह' हैं जहाँ आनन्दमयी जैसे व्यक्तियों का सनातन आवास है। इस जगह को हम इतिहास के विशाल कक्ष के प्रवेश को घेरते गल्प का बरामदा भी कह सकते हैं।

सन्दर्भ

1. आशीष नन्दी, दि इण्टीमेट एनिमी (1983), पृष्ठ 103
2. संयोगवश यहाँ मुझे याद आ रहा है कि कहीं किसी प्रसंग में रवींद्रनाथा ठाकुर ने (सम्भवतः दसवें रस के रूप में) 'इतिहास रस' की धारणा व्यक्त की है। यदि ऐसा है तो गोरा 'कृति की प्रज्ञा' का वह उदाहरण है जहाँ वह स्वयं अपने रचयिता की प्रज्ञा के परे और विपरीत चली जाती है।
3. रामचन्द्र गाँधी : कव्वे और कालापानी : एक सहज पाठ : पूर्वग्रह (मार्च-अप्रैल, 1990) पृष्ठ 55
4. आशीष नन्दी, दि इण्टीमेट एनिमी (1983), पृष्ठ 103

यह आलोचनात्मक पाठ गोरा के स. ही. वात्स्यायन 'अज्ञेय' कृत हिन्दी अनुवाद (साहित्य अकादेमी से प्रकाशित) पर आधरित है।

'गोरा' में खचित जटिल समय

गोपाल प्रधान

रवींद्रनाथ ठाकुर जैसा बेचैन रचनाकार किसी भी भाषा, देश और समाज को सदियों में संयोग से मिलता है। उनकी रचनाओं से देश तो समृद्ध हुआ ही, बांग्ला भाषा का गौरव भी बढ़ा। आज इस बात को याद करना अधिक जरूरी है क्योंकि भारत जैसे बहुभाषी देश में किसी एक भाषा को राजकीय प्रश्रय देना सभी भाषाओं को दरिद्र बनाएगा। उनमें आपसी सहकार की जगह संदेह पैदा होगा। भारत की भाषाओं के आपसी सहकार के चलते ही रवींद्रनाथ ठाकुर के इस उपन्यास का हिंदी अनुवाद हिंदी के प्रसिद्ध कवि अज्ञेय ने किया है। उनके अनुवाद की गुणवत्ता के चलते भी उपन्यास हिंदी में सुबोध हो गया है।

यह उपन्यास 1907 से 1910 तक 'प्रवासी' नामक पत्रिका में क्रमबद्ध प्रकाशित हुआ और 1910 में बांग्ला में छपा। किताब के बतौर छपाई के समय रवींद्रनाथ ने कुछ संपादन भी किया था। उनके मन में इस किताब की कल्पना 1904 में आई जब सिस्टर निवेदिता को उन्होंने यह कथा सुनाई थी। कथा में गोरा और सुचरिता का मिलन नहीं हुआ था। जो कहानी उन्होंने सुनाई थी उसमें गोरा के आयरिश मूल का पता चलने पर सुचरिता ने उससे विवाह करने से इंकार कर दिया था। इसे सुनकर सिस्टर निवेदिता नाराज हुईं और कहा कि जो असल जीवन में न हो उसे कथा में तो होता दिखाया जा ही सकता है। उपन्यास जब प्रकाशित हुआ तो दोनों का मिलन चित्रित हुआ। प्रकाशित कथा में गोरा के जन्म का समय 1857 का है। उसके वयस्क होने को तीस साल की उम्र मानें तो कथा 1880 की ठहरती है। कहानी के इस समय को ध्यान में रखें तो उन्नीसवीं सदी की आखिरी चौथाई की समूची हलचल का साक्ष्य इस उपन्यास से हासिल होता है। समय को रवींद्रनाथ ने केवल तारीख के रूप में नहीं दर्ज किया। समूचे पर्यावरण को भी पहचानते हुए वे इसे देखते हैं। उस समय के कलकत्ता का हाल 'उस समय कलकत्ता की गंगा और गंगा का किनारा वणिक सभ्यता की लाभ-लोलुप कुरूपता से जल-थल पर आक्रांत नहीं हुआ था; किनारे पर रेल की पटरी और

पानी पर पुल की बेड़ियाँ नहीं पड़ी थीं। उन दिनों जाड़ों की संध्या में शहर के निःश्वासों की कालिख आकाश पर इतनी घनी नहीं छा जाती थी।' लेखन के समय और कथा के समय को इस तरह से अलगाना आज भी बेहद संवेदनशीलता की माँग करता है।

इस उपन्यास के जरिए रवींद्रनाथ ठाकुर ने वैचारिक उपन्यास की एक नई विधा को जन्म दिया। आज भी यह उपन्यास अत्यंत प्रासंगिक प्रतीत होता है। उपन्यास की वैचारिकता के लिए याद रखना होगा कि रवींद्रनाथ ठाकुर 1905 के बंग भंग के विरोध में हुई गोलबंदी में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे थे। उनकी इस सक्रियता से हासिल अनुभव ने भी उपन्यास को गहन वैचारिक पृष्ठभूमि प्रदान की है। उपन्यास में उठाए गए तमाम गम्भीर सवालों पर स्वदेशी आंदोलन की सफलता या असफलता की छाया है।

एकदम आरम्भ में ही उपन्यास अपनी विवेच्य वस्तु का पता दे देता है। इसकी कथाभूमि का शहर कलकत्ता है। अगर आपने प्रेमचंद का उपन्यास 'गबन' देखा हो तो याद दिलाने की जरूरत नहीं कि उसकी कथाभूमि इलाहाबाद और कलकत्ते की है। हिंदी क्षेत्र में औपनिवेशिक आधुनिकता का प्रवेश इलाहाबाद से हुआ तो उत्तर भारत में उसका प्रवेश कलकत्ते से हुआ था। आधुनिकता का एक अन्य लक्षण विभिन्न सभाओं और संस्थाओं की मौजूदगी भी उपन्यास में प्रचुरता से प्रकट हुई है। यहाँ तक कि अखबार और पुस्तकें भी महत्त्वपूर्ण तरीके से मौजूद हैं। मतलब कि 'गोरा' की कथा में औपनिवेशिक आधुनिकता और उसके दबाव से पैदा सामाजिक हलचल महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं। आधुनिकता के साथ ही जुड़ी परिघटना नौकरशाही है जिसने मुट्ठी भर अंग्रेजों का शासन कायम रखने में मदद की। ऐसे हिंदुस्तानियों के बारे में बात करते हुए रवींद्रनाथ संदर्भ विशेष से अलग होकर उत्पीड़क व्यवस्था में मौजूद व्यक्ति के अमानवीकरण की प्रक्रिया की भी पड़ताल करते हैं। इस प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए सुचरिता से गोरा कहता है—'...नौकरी के फंदे अंग के गहने होते जा रहे हैं और आजकल के डिप्टियों (भारतीयों) के लिए भी देश के लोग कुत्ते-बिल्ली के समान हुए जा रहे हैं। और इस तरह तरक्की पाते रहने से जो उनकी केवल अधोगति हो रही है, इस बात की अनुभूति भी उनकी चली जा रही है।'

इस दबाव से जो बदलाव आ रहे हैं उनमें स्वाधीनता की आकांक्षा से लगे लिपटे जाति व्यवस्था और स्त्री की सामाजिक स्थिति के मामले में उलट-फेर जैसे प्रश्न कथा के एकदम शुरू में ही नजर आने लगते हैं। स्त्री का प्रसंग स्वदेश प्रेम से जुड़ा हुआ है। इस सवाल पर विनय और गोरा के विचारों का टकराव तब नजर आता है जब विनय कहता है 'हम भारतवर्ष को केवल पुरुषों का देश मानकर देखते हैं, स्त्रियों को बिलकुल देखते भी नहीं।' उत्तर में गोरा कहता है 'तो तुम शायद अंग्रेजों की तरह घर में और बाहर, जल-थल और आकाश में आहार-विहार और कर्म में, सब जगह स्त्रियों को देखना चाहते हो?' इसके परिणाम की भयावहता की ओर संकेत करते हुए कहता है 'उसका नतीजा यही होगा कि पुरुषों से स्त्रियों को अधिक मानना होगा- उससे भी देखने में सामंजस्य नहीं रहेगा।' विनय का इसके बाद का कथन तत्कालीन देशभक्ति की इस प्रचंड सीमा का उद्घाटन करता है 'तुम्हारी राय में देश मानो नारी-हीन ही है।' असल में मुख्य मामला स्त्री की सार्वजनिक उपस्थिति का है 'गृहस्थी के काम-काज से बाहर अगर हम देश की स्त्रियों को देख पाते तो हम स्वदेश के सौंदर्य और संपूर्णता को देखते।' कहने की जरूरत नहीं कि राष्ट्र के भीतर के तनावों को इसमें अभिव्यक्त देखा जा सकता है। सुचरिता के प्रेम में पड़ने के बाद इस मामले में गोरा भी बदलता है। उसके अनुभव को दर्ज करते हुए रवींद्रनाथ ने लिखा 'जब तक भारतवर्ष की नारी उसकी अनुभव गोचर नहीं हुई थी, तब तक उसकी भारतवर्ष की उपलब्धि कितनी अधूरी थी, यह वह इससे पहले नहीं

जानता था। गोरा के लिए नारी जब तक अत्यन्त छायामय थी, तब तक देश के संबंध में उसका कर्तव्य-बोध कितना अधूरा था!'

इतने बड़े सामाजिक फलक का यह उपन्यास विधा की शर्तों पर भी पूरी तरह से खरा उतरता है। इसमें पात्रों के बीच विचार विमर्श के साथ ही उनके जीवन की निजी हलचलें भी चलती रहती हैं। पूरे उपन्यास में रोचकता कहीं कम नहीं होने पाती। आखिरी पन्ने तक रोमांच बना रहता है। सुचरिता और गोरा के रिश्ते की परिणति का रोमांच तो आखिरी पंक्ति तक बनाए रखने में रवींद्रनाथ सफल हुए हैं। निराला को शायद इसी से कुल्ली के समलैंगिक होने के तथ्य को अंत तक छिपाए रखने की कला मिली होगी। पाठक को बीच बीच में गोरा के सिलसिले में कुछ रहस्य का संकेत मिलता रहता है लेकिन रहस्य अंत में खुलता है। उसके हिंदू पुनरुत्थान का नेता होने और आयरिश माता-पिता की संतान होने की विचित्रता इस हिंदू पुनरुत्थान के यूरोपीय मूल का इशारा पूरी विडम्बना के साथ करता है। जब उसके समक्ष सचाई खुलती है तो मानो उसकी मुक्ति हो जाती है। इस मुक्ति को स्वर देते हुए गोरा कहता है 'आज मैं सारे भारतवर्ष का हूँ। मेरे भीतर हिन्दू, मुसलमान, ख्रिस्तान किसी समाज के प्रति कोई विरोध नहीं है। आज इस भारतवर्ष में सबकी जात मेरी जात है, सबका अन्न, मेरा अन्न है।' इससे पहले भी उसके हिंदू और मनुष्य होने के बीच का टकराव चित्रित हुआ है। जब उसके अविनाश जैसे अनुयायी प्रचार के लिए उसका उपयोग करना चाहते हैं तो उसका क्षोभ जाहिर होता है। इसके अतिरिक्त भी शहर से बाहर देहात में उसके अनुभव उसे कट्टरता से ऊपर उठा देते हैं।

उपन्यास को प्रेम कथा के रूप में भी पढ़ा जा सकता है। कम से कम दो जोड़े तो हैं ही जिनके आपसी भावनात्मक संबंधों की उठापटक पूरे उपन्यास में व्याप्त है। गोरा और सुचरिता तथा विनय और ललिता के प्रेम की कहानी उपन्यास का मुख्य कथासूत्र है। दोनों स्त्रियाँ ब्राह्म परिवार की हैं। इस तरह प्रेम के साथ ही ब्राह्म और हिंदू समाज का टकराव भी उभर आता है। इन दोनों ही समाजों के कट्टरों के साथ गोरा को जिन्होंने अपनाया उन आनंदमयी और सुचरिता के पालन पोषण करने वाले परेश बाबू ऐसे पात्र हैं जिनके समक्ष कट्टरता परास्त हो जाती है। हिंदू और ब्राह्म के बीच यह टकराव किस स्तर का था इसका पता चलता है जब हम ललिता के प्रसंग में सुनते हैं कि 'ललिता के मन में ब्राह्म-परिवार का संस्कार बहुत दृढ़ था, जिन स्त्रियों को आधुनिक ढंग की शिक्षा नहीं मिली और जिन्हें वह "हिन्दू घर की औरते" कहकर जानती थीं, उनके प्रति ललिता में सम्मान नहीं था।' प्रसंग आनंदमयी के समक्ष इस अहंकार के टूटने का है। संप्रदाय का यही विभाजन परेश बाबू के शब्दों में सुनिए 'संप्रदाय ऐसी चीज है कि लोगों को यह जो सबसे सीधी बात है कि इंसान इंसान है, यही भूला देता है। इंसान ब्राह्म है कि हिन्दू, समाज की गढ़ी हुई इस बात को विश्व-सत्य से बड़ा बनाकर एक झमेला खड़ा कर देता है।' इस भावना की ही प्रतिध्वनि आनंदमयी के कथन में मिलती है 'तुम्हारा ब्राह्म समाज भी क्या मनुष्य को मनुष्य से मिलने नहीं देगा? ईश्वर ने जिनको भीतर से एक बनाया है, तुम्हारा समाज बाहर से उन्हें अलग कर रखेगा?' यही प्रेम गोरा के मन में हिन्दू धर्म की उदार भावना की जगह बनाई। सुचरिता से वह कहता है—'दुनिया में केवल हिन्दू धर्म ने मनुष्य को मनुष्य कहकर जाना है, केवल दल का व्यक्ति नहीं समझा। हिन्दू धर्म मूढ़ को भी मानता है, ज्ञानी को भी मानता है—और ज्ञान की भी केवल एक मूर्ती को नहीं मानता, उसके अनेक प्रकार के विकास को मानता है।' इसी हिन्दू धर्म की कमजोरी विनय को तब महसूस होती है जब उसने ललिता से विवाह करने का निश्चय किया। गोरा से वह

कहता है 'जिस समाज में ज़रा-सा धक्का लगने से ही टूट आ जाती है और हमेशा के लिए रह जाती है, उस समाज में मनुष्य के लिए अपनी इच्छा से चलने-फिरने या काम-काज करने में कितनी कठिनाइयाँ हो जाती हैं, यह भी तो सोचना चाहिए।' हिन्दू धर्म की इस समस्या को परेश बाबू ने व्यक्त करते हुए कहा कि 'हिन्दू समाज मनुष्य का अपमान करता है, निषेध करता है, इसलिए आजकल के ज़माने में उसके लिए आत्मरक्षा कर सकना प्रतिदिन कठिनतर होता जाता है, क्योंकि अब वह और ओट में नहीं रह सकता- अब दुनिया में चारों ओर रास्ते खुल गए हैं, चारों ओर से लोग उस पर चढ़े जा रहे हैं- अब शास्त्र-संहिता के बाँध बनाकर या दीवारें खड़ी करके वह अपने को किसी तरह भी दूसरों के संपर्क से अछूता नहीं रख सकता। अब भी अगर हिन्दू समाज अपने भीतर संग्रह करने की शक्ति नहीं जगाता और क्षय-रोग को ही प्रश्रय देता चलता है, तो बाहर के लोगों का यह संपर्क उसके लिए एक सांघातिक चोट हो जाएगा।' कहीं-कहीं उनकी आलोचना अंबेडकर की चिंतनधारा से संवाद करती हुई महसूस होती है। देहात के बारे में गोरा की राय देखिए '...इन देहातों में समाज के बंधन पढ़े-लिखे भद्र समाज से कहीं अधिक कड़े हैं। हर घर के खान-पान, उठने-बैठने और हर काम-काज पर समाज की अपलक आँखें मानो दिन-रात निगरानी रखती थीं। इन लोगों में ऐसा कोई ऐक्य नहीं था, जो सुख-दुःख और विपत्ति में उन्हें कंधे-से-कंधा मिलाकर खड़ा कर सके।' गोरा जन्म से आयरिश है इस तथ्य के उल्लेख से रवींद्रनाथ मामले की जटिलता को और बढ़ा देते हैं। सभी जानते हैं कि इंग्लैंड का पहला उपनिवेश आयरलैंड ही था।

(इस लेख में राधारानी चक्रवर्ती के गोरा संबंधी अध्ययन तथा तनिका सरकार के लेखन से मदद ली गई है। गोरा से सभी उद्धरण साहित्य अकादमी से प्रकाशित अज्ञेय के हिन्दी अनुवाद से दिए गए हैं।)

अनुवाद की सांस्कृतिक राजनीति
(संदर्भ : गोरा)

अबु सालेह
अनु. रामकीर्ति शुक्ल

रवींद्रनाथ टैगोर का बहु-प्रशंसित उपन्यास 'गोरा' 1907-1908 के अनंतर एक बंगाली पत्रिका में धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुआ था। 1910 में इसका पुस्तकाकार संस्करण प्रकाशित हुआ। अंग्रेजी भाषा में इसके अनेक अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं। डब्ल्यू.डब्ल्यू. पियर्सन द्वारा किया गया इसका पहला अंग्रेजी अनुवाद 1924 में प्रकाशित हुआ और उसके बाद इसके अन्य अंग्रेजी अनुवाद प्रकाश में आये, जिनमें शामिल है 1964 में प्रकाशित ई.ई. डॉड का संक्षिप्त अंग्रेजी अनुवाद। फिर सुजीत मुखर्जी ने 1997 में इसका अंग्रेजी अनुवाद किया, 2008 में मोहित कुमार रे तथा रमा कुंडू और 2009 में राधा वक्रवर्ती के अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हुए। 'गोरा' रवींद्रनाथ का पाँचवाँ और आकार में सर्वाधिक विस्तृत उपन्यास है। बांग्ला कथा साहित्य के इतिहास में 'गोरा' को मील का पत्थर माना जाता है। तात्कालिक राष्ट्रवादी चिंतन की परिकल्पनाओं और मताग्रहों की जितनी तीखी और तर्कपूर्ण मीमांसा इस उपन्यास में की गयी है और जिस अंतर्दृष्टि के साथ उन्हे प्रश्नांकित करने में जिस लेखकीय साहसिकता का परिचय टैगोर ने दिया है वह बांग्ला साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ हैं। अपनी महाकाव्यात्मक व्याप्ति में यह उपन्यास उन्नीसवीं सदी के मध्यवर्गीय नगरीय बंगाली भद्रलोक के जीवन के लगभग सभी पक्षों को—सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक तथा व्यावहारिक—समेटे हुये है। ब्रिटिश शासन की गत्यात्मक पृष्ठभूमि में आत्मविभाजित बंगाली समाज किस प्रकार दूर क्षितिज पर उदित हो रहे राष्ट्र के लिये किस प्रकार अपने से ही संघर्षरत है, इसका मार्मिक चित्र उपन्यास के पृष्ठों पर पर उकेरा गया है।

'गोरा' उपन्यास का इसी नाम का नायक आयरिश माता-पिता की संतान है जो अपने विचारों में कट्टर हिंदूवाद का समर्थक है और जो समकालीन बंगाली समाज को इसी दृष्टि से देखता है। वह स्वयं इस हिंदूवाद को जीता है, एक ऐसा हिंदू जो अपने आप को ब्रिटिश औपनिवेशिक संस्कृति के उत्तरपक्ष के रूप में परिभाषित करता है और यह मानता है कि राष्ट्रवादी

पहचान के लिये संगठित धार्मिक आचरण अपरिहार्य हैं। 'गोरा' को पुनुरुत्थानवादी हिंदू विचारधारा का पोषक-समर्थक माना जा सकता है। उपन्यास की सामाजिक पृष्ठभूमि उन्नीसवीं सदी का बंगाल है जो एक प्रकार के अंतःविक्षोभ के दौर से गुजर रहा है। 'गोरा' एक ऐसा राजनीतिक उपन्यास हे जो उन्नीसवीं सदी के उस पुनुरुत्थानवादी आंदोलन का क्रिटीक प्रस्तुत करता है जिसके उन्नायकों में प्रमुख नाम है बंकिमचंद्र वटर्जी। नायक के चरित्र के माध्यम से उपन्यासकार ने उस समय के औपनिवेशिक व्यक्ति, समाज तथा राजनीति की तह में जाने का प्रयास किया है। टैगोर ने उस समय के युवा वर्ग की हताशा-निराशा के बरक्स प्रदीप्त बंगाली पुनर्जागरण का चित्रण किया है। गोरा का आक्रामक, आक्रोशयुक्त और मुखर हिंदू राष्ट्रवाद तथा पुनुरुत्थानवादी हिंदू उद्घोष उसी औपनिवेशिक मनोवेज्ञानिक यंत्रणा में मूलस्थ है।

'गोरा' का पहला अंगेजी अनुवाद 1924 में प्रकाशित हुआ था और अगले नौ दशकों में उसके नये संस्करण लगातार प्रकाशित होते रहे। इसका प्रथम प्रकाशन लंदन की प्रकाशन संस्था मैक्मिलन एण्ड कम्पनी ने किया था और 1976 तक वहीं से इसके पुनर्संस्करण निकलते रहे। 1980 मे बाद इसके पुनर्प्रकाशन मैक्मिलन पॉकेट टैगोर के अंतर्गत मैक्मिलन इण्डिया लि0 द्वारा किए जाते रहे। इस शृंखला में उपन्यास का पुनर्मुद्रण 1983 और 1995 में हुआ। 2002 से इसका प्रकाशन रूपा एण्ड कम्पनी से होने लगा जिसमें यह उल्लेख अवश्य रहता है कि डब्ल्यू डब्ल्यू पियर्सन ने इसका अनुवाद 1924 में किया था। इस संस्करण में अनेक अशुद्धियाँ है और यह बंगाली स्रोत संस्करण से अनेक स्थलों पर भिन्न है। शब्द, वाक्यांश और वाक्य ही नहीं बल्कि पूरे के पूरे पैराग्राफ तक छोड़ दिये गये हैं। पियर्सन का अनुवाद पूरी तरह किसी प्राच्य पाठ का 'पश्चिमीकृत' अनुवाद है अर्थात् यह अनुवाद पश्चिमी पाठकों को ध्यान में रख कर किया गया है ताकि वे किसी प्राच्य पाठ को और साथ ही प्राच्य संस्कृति को अपने मनोनुकूल साँचें में देख सकें। इस क्रम में उपन्यास के कथा-विन्यास में रचे-बसे स्थानिक परिवेश के साथ ही उपन्यास का भारतीय पर्यावरण भी धुल-पुंछ गया है। यही नहीं, उपन्यास के मौलिक परिवेश के साथ ही इसका सम्बोध्य अर्थ तथा कलात्मक आस्वाद भी खंडित हो गया है। हम कह सकते हैं कि पियर्सन का अनुवाद स्रोत बांग्ला पाठ का 'भ्रष्ट' अनुवाद है क्योकि यह मूल पाठ का अनुसरण नहीं करता।

मूल पाठ के अनेक अंशों को इस अनुवाद में छोड़ दिया गया है। इसमें आंचलिक तत्वों, कथोपकथनों, बहसों, खण्डनात्मक अंशों, कठिन शब्दों-मुहावरों तथा संस्कृति-सूचक शब्दावलियों को भी छोड दिया गया है। ऐसे स्थलों के संदर्भ में अनुवादक का यह दायित्व होना चाहिए था कि वह अपनी टिप्पणियों में अथवा अपने परिचयात्मक वक्तव्य में उन कारणों का उल्लेख करता जिनके चलते उसे इन्हे छोड़ना पडा। ऐसी किसी भी सूचना अथवा टिप्पणी के अभाव में इस प्रकार से मूल पाठ के अंशों को छोड़ना अनुवादक अथवा प्रकाशक की गंभीरता अथवा निष्ठा पर सवाल खडा करता है। (असादुद्दीनः 2002,163)। इससे अनुवादक की मनमानी और अनुवाद के प्रति उसकी लापरवाही का पता चलता है। इससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि पियर्सन ने अनुवाद-कर्म के प्रति अपेक्षित गांभीर्य का परिचय नही दिया है। लेकिन बात सिर्फ गंभीरता के अभाव की ही नहीं है, इसके पीछे अन्य कारण हो सकते हैं। प्रकाशक ने भी इस पक्ष पर ध्यान नहीं दिया है और परिणामतः उसी भ्रष्ट पाठ का पुनर्मुद्रण होता रहा।

'गोरा' का दूसरा अंग्रेजी अनुवाद 1964 में प्रकाशित हुआ, अनुवादक थे ई. ई. डॉड। यह उपन्यास का संक्षिप्त और सरल अनुवाद था। इसमें उपन्यास का पूरा कथानक नही अनूदित किया गया है। वास्तव में यह स्कूली बच्चों के लिये कहानी के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

इसकी भाषा और शब्दावली पियर्सन के अनुवाद पर आधारित है और यह उसी अनुवाद का संक्षेपीकरण भर है। राधा चक्रवर्ती के अनुसार ''यह पियर्सन के अनुवाद का एक अधूरा संस्करण है जो शैली में आडंबरपूर्ण तो है ही लेकिन जो अशुद्धियों से भरा हुआ है।'' (चक्रवर्तीः 2009, xxi)। मूल उपन्यास में से क्या लेना है और क्या छोड़ना है, इसका कोई तर्कसंगत आधार नही बताया गया है। पियर्सन की तुलना में डॉड का संस्करण कहीं अधिक सांस्कृतिक राजनीति में उलझा हुआ है। इसमें उपन्यास के ऐसे अंशों को प्रमुखता दी गयी है जिनमें रूढिवादिता, अंधविश्वास तथा धार्मिक कट्टरवाद जैसी बुराइयों की चर्चा ज्यादा है और जिनसे बंगाल की एक नकारात्मक छवि गढने में सहूलियत होती हैं। दूसरी ओर इसमें मूल पाठ के उन अंशों को पूरी तरह निकाल दिया गया है जिनसे औपनिवेशिक ब्रिटिश शासकों अथवा अंग्रेज जाति की आलोचना की गयी है। इस प्रकार के अंतर्विरोधों की एक बानगी ''प्राक्कथन'' में ही मिल जाती है :

> *गोरा* उनके (टैगोर के) सर्वाधिक प्रसिद्ध उपन्यासों में से एक है जिसमें उन्नीसवीं के रूढ़िवादी और उदार हिंदू परिवारों के जीवन और उनकी समस्याओं का चित्रण किया गया है। ('गोरा', 1964, 5)

अनुवादक ने जान-बूझ कर तमाम ऐसे प्रसंगों को नही शामिल किया है जो भारत में अंग्रेजों की काली करतूतों की ओर परोक्ष रूप से भी संकेत करते हैं जैसे स्टीमर में अंग्रेजो के साथ गोरा का वार्तालाप अथवा पुलिस द्वारा ग्रामीणों का उत्पीड़न, नील की खेती करने वाले किसानों के साथ अंग्रेजों का बर्बर व्यवहार इत्यादि। यह उपन्यास के उन अंशों पर भी ध्यान नहीं देता जहाँ टैगोर ने बंगाल के प्राकृतिक सौंदर्य का चित्रण किया है अथवा जहाँ बंगाल के समाज और उसकी सांस्कृतिक परंपराओं का विस्तार से किंचित आत्मीयता से उल्लेख किया है। चूंकि डॉड का संस्करण स्कूली बच्चों को ध्यान में रखकर तैयार किया गया था, इस लिये उनकी सुविधा को ध्यान में रखते हुये इसमें चित्रांकनों का भी सहारा लिया गया है। प्रत्येक अध्याय इस प्रकार के इन चित्रांकनों से सजाया गया है लेकिन इन चित्रांकनों में कथानक के क्रम का अनुसरण नहीं किया गया है। इस प्रकार पूरी पुस्तक में बिना किसी क्रम के छितराए हुए चित्रांकनों की व्याख्या पाठ से जोड़ कर नही की जा सकती। डॉड के अनुवाद की यह एक और समसया है।

'गोरा' का तीसरा अनुवाद 1997 में साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित हुआ। अनुवादक थे प्रख्यात आलोचक, अनुवादक, टैगोर साहित्य के मर्मज्ञ व्याख्याकार तथा साहित्य सैद्धांतिकी के अधिकारी विद्वान सुजित मुखर्जी। ''टिप्पणियों सहित बांग्ला से अनूदित'' पुस्तक के मुखपृष्ठ पर ही छपा हुआ है जो स्रोत पाठ के प्रति अनुवादक की निष्ठा का प्रमाण है। अनुवादक ने यह स्पष्ट कर दिया है कि उपन्यास का मूल बांग्ला पाठ 1941 में प्रकाशित रवींद्र रचनावली से लिया गया है और उसी पर प्रस्तुत अनुवाद आधारित है। अनुवादक का मंतव्य है कि उपन्यास के जिन अंशों को पहले के अनुवादों ने छोड़ दिया गया था उन्हे प्रस्तुत अनुवाद में यथा स्थान शामिल कर लिया गया है और इस तरह मूल उपन्यास पहली बार अपनी पूर्णता में अंग्रेजी में प्रस्तुत किया गया है। 'गोरा' के अनुवादों के लंबे इतिहास में सुजित मुखर्जी का अनुवाद अनुवाद की प्रणाली और सैद्धांतिकी में एक स्वागतयोग्य परिवर्तन का संकेत है। इस अनुवाद के अनेक सकारात्मक आयाम हैं। स्रोत पाठ में आये हुये अनेक गौण लगने वाले लेकिन कथानक के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले विवरणो—मौसम तथा कोलकता शहर के कई दृश्यों के विस्तृत ब्योरे—को अपने अनुवाद में शामिल करके मुखर्जी ने लक्ष्य पाठ को समृद्ध

बनाया है। टैगोर की सुपरिचित आख्यान 'कला, उनके गद्य की काव्यात्मकता तथा उनकी लेखन शैली की अन्य विशेषताओं को भी अनुवादक ने यथासंभव संरक्षित करने का प्रयास किया हैं।

मुखर्जी का अनुवाद अनुवाद कला में निष्णात् व्यक्ति का अनुवाद है जिसमें पाठ सें संबंधित आवश्यक सूचनायें विस्तार से दी हुई हैं। मीनाक्षी मुखर्जी की विस्तृत भूमिका इस अनुवाद का एक अतिरिक्त आकर्षण है जिसमें उपन्यास की विषयवस्तु की संक्षिप्त रूपरेखा भी प्रस्तुत कर दी गयी है। इस भूमिका से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उपन्यास के शब्दों के शब्दार्थ के साथ ही उनके निहितार्थों के प्रति भी पाठको को सचेत रहना चाहिये। अंग्रेजी अनुवाद में बांग्ला के कुछ शब्दों को ज्यों का त्यों ही रहने दिया गया है और ऐसा इसलिए कि अनुवादक के अनुसार कुछ शब्द इतने अधिक संस्कृतिगर्भी हैं कि लक्ष्य भाषा में उनके उपयुक्त समानार्थक शब्द मिल ही नहीं सकते। अनुवाद के अंत में ऐसे बांग्ला शब्दों की एक सूची भी दी गयी है जहाँ उनकी तर्कसम्मत विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। इस तरह उपन्यास के कथानक को सरलता से हृदयंगम करने और स्रोत संस्कृति के आस्वाद की दृष्टि से मूल बांग्ला शब्दों को अंग्रेजी अनुवाद में उसी रूप में बनाये रखने का समाधान हो जाता है और साथ ही अनुवादक के प्रखर संस्कृति-बोध से भी पाठक अवगत हो जाता हे। इससे यह भी सिद्ध होता है कि अपने पूर्ववर्ती अनुवादकों की अपेक्षा मुखर्जी स्रोत पाठ के प्रति कहीं अधिक सचेत और संवेदनशील हैं।

'गोरा' का चौथा अनुवाद 2008 में प्रकाशित हुआ और इस बार अनुवादक थे अंग्रेजी के दो भारतीय (बंगाली) प्रोफेसर—मोहित के. रे और रमा कुण्डू। इसका प्रकाशन किया नई दिल्ली स्थित अटलांटिक पब्लिशर्स ने। इस अनुवाद की विशेषता है भाषा का लालित्य, स्रोत पाठ के प्रति निष्ठा और अनुवाद के संदर्भ में आधुनिक दृष्टिकोण। एक क्लासिक पाठ का यह समकालीन पाठ है। अनुवाद जीवंत, नाटकीय, और रोचक है; इससे पहले के अनुवादों में ये तत्व लगभग नही के बराबर हैं। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि रे और कुण्डू का अनुवाद सुजित मुखर्जी के अनुवाद का सरलीकृत संस्करण है। इसमें उपन्यास के उन आयामों को परिवर्तित, व्याख्यायित, तथा सरल रूप में प्रस्तुत किया गया है जो पहले के अनुवादों, और विशेष रूप में प्रथम अनुवाद, में उतने स्पष्ट नही हो पाये थे।

अनुवादकों ने स्रोत पाठ के प्रति निष्ठा और अनुवादीय स्वतंत्रता के बीच संतुलन बनाये रखने का प्रयास किया है। उपन्यास की मूल बांग्ला भाषा और अनुवाद की भाषा (अंग्रेजी) के बीच भी इसी प्रकार यथासंभव निकटता बनाये रखने का उपक्रम किया गया है। ('गोरा', 2006, vi)। इस अनुवाद में भी पाठकों की सुविधा के लिये अंत में संस्कृत और बांग्ला के शब्दों और उनके समानार्थक अंग्रेजी शब्दों की सूची दे दी गयी है लेकिन उपन्यास के वृहद आकार को देखते हुये इसे पर्याप्त नहीं कहा जा सकता। अनुवादकों ने अपने पाठ के प्रारंभ में आलोचनात्मक परिचय भी दिया है लेकिन इसमें अनुवाद के बारे में तीसरे अनुवाद की तुलना में बहुत कम कहा गया है। जहाँ तक भाषा और शैली की बात है तो इनमें प्रांजलता और सरलता दोनो गुण विद्यमान है और इस संदर्भ में यह मुखर्जी के अनुवाद की तुलना में काफी आगे है हालाँकि सामान्यतः मुखर्जी के अनुवाद को ही स्तरीय और अकादमिक उद्देश्यों के लिये अधिक वरेण्य माना जाता है। इस अनुवाद में देसी और बोल-चाल के शब्दों अथवा अपशब्दों के साथ ही सामान्य व्यवहार में धड़ल्ले से इस्तेमाल किये जाने वाले निरर्थक शब्दों को भी स्थान दिया गया है जो भारतीयता और देशजता का संकेत देते रहते है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि कई मायनों में यह अनुवाद प्रशंसनीय है।

2009 में राधा चक्रवर्ती द्वारा किया गया 'गोरा' का पाचवाँ अनुवाद नई दिल्ली स्थित

पेंगुइन इण्डिया से प्रकाशित हुआ। अनुवादक का दावा है कि उनका अनुवाद नया, प्रांजल और जीवंत अनुवाद है और मूल बांग्ला पाठ को उसकी पूर्णता में आज के ऐसे युवा पाठकों के लिये अंग्रेजी भाषा में प्रस्तुत किया है जो या तो बाँग्ला भाषा से परिचित नहीं हैं अथवा अंग्रेजी के प्रति अधिक लगाव रखते हैं। राधा चक्रवर्ती के शब्दों में–

> ''प्रस्तुत अनुवाद (पूववर्ती अनुवादकों की) कुछ असावधानियों और त्रुटियों को दूर करने का प्रयास करता है और इक्कीसवी शताब्दी के उन पाठकों के समक्ष इस विशाल उपन्यास का एक सुबोध एवं पठनीय संस्करण प्रस्तुत करने का प्रयास करता है जो बंगाली नहीं जानते।'' (xxi)

अनुवादक ने उपन्यास की एक प्रखर एवं विद्वत्तापूर्ण भूमिका भी लिखी है। अच्छा होता कि उन्होंने इस भूमिका को थोड़ा और विस्तार दिया होता जिससे पाठक को इस जटिल और उलझे हुये उपन्यास को हृदयंगम करने में सहायता मिलती। दूसरी ओर यह भी खेदजनक है कि उपन्यास की अनुवाद प्रक्रिया पर उन्होंने विस्तृत टिप्पणी नहीं की है जैसी कि उम्मीद थी। इस मुद्दे को उन्होने संक्षेप में ही निपटा दिया है हालाँकि इसमें भी कोई नई बात नही की गयी है। क्या ही अच्छा होता कि उन्होने अपने अनुवाद में प्रयुक्त प्रणाली और तकनीक पर प्रकाश डाला होता।

कुछ सीमा तक राधा चक्रवर्ती ने मूल उपन्यास में उल्लिखित लोगों और स्थानों के विशिष्ट सांस्कृतिक क्रियाकलापों को अपने अनुवाद में उचित महत्त्व दिया है। अंग्रेजी भाषा के चटनीकरण के इस दौर में अनुवादक ने अनूदित पाठ में बांग्ला शब्दों से छेड़-छाड़ नही की है जो आश्चर्यजनक होते हुए भी सकारात्मक कहा जा सकता है। इसके चलते एक शताब्दी की आयु वाले लक्ष्य पाठ में एक नया आयाम जुड़ गया है। अनुवाद से अनुवादक की परिपक्व साहित्यिक समझ और उपन्यास के सांस्कृतिक सरोकारों में गहरे उतरने और उन्हें रेखांकित करने की उसकी क्षमता का संकेत मिलता है। स्रोत पाठ के सांस्कृतिक आयाम को लक्ष्य पाठ में सफलतापूर्वक उतारने के क्रम में अनुवादक ने अपने अनुवाद को मूल पाठ के मंतव्य के सर्वाधिक निकट लाने में प्रशंसनीय सफलता पायी हैं। इस अनुवाद का प्रमुख दोष है इसकी उलझी हुई वाक्य-संरचना। इससे बांग्ला और अंग्रेजी पाठों के बीच शायद ही कोई अंतराल रह जाता हो। एक द्विभाषी और द्विसांस्कृतिक लेखक और अनुवादक के रूप में शायद वे इन चीजों को बेहतर समझती हैं लेकिन स्रोत पाठ और अनूदित पाठ की भाषिक अस्मिताओं का अलग रंग बरकरार रखा जाना चाहिये था, जोकि प्रस्तुत अनुवाद में ग़ायब हैं। अनुवाद के पहले ही पृष्ठ पर मुद्रित कविता के अनुवाद से पूरे उपन्यास के अनुवाद की एक बानगी मिल जाती है। अनुवाद की भाषा के कारण पूरी कविता का रूप ही बदल गया है हालाँकि अन्य कविताओं का अनुवाद मूल कविता के काफी निकट हैं।

इन पाँचों अनुवादों पर विचार करने से एक बात जो स्पष्ट हो जाती है वह यह कि अधिकांश में दो कारक सक्रिय हैं। एक है अनुवादों का औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक आयाम और दूसरा है अनुवाद के प्रति बहुपद्धतीय दृष्टिकोण, जिसका बहुधा प्रयोग किया जाता है। यहाँ औपनिवेशिक अनुवाद पर कुछ चर्चा समीचीन होगी। औपनिवेशिक अनुवाद अथवा अनुवादक का ध्यान लक्ष्य पाठ पर होता है और ऐसा इसलिये क्योंकि वे लक्ष्य पाठ तथा पठनीयता को औपनिवेशिक परिप्रेक्ष्य देखते हैं। इसका प्रभाव स्रोत पाठ पर होता है क्योंकि औपनिवेशिक अनुवाद की प्रक्रिया में स्रोत पाठ परिवर्तित हो जाता है और इस प्रकार विषयवस्तु के संदर्भ में अथवा संरचना के संदर्भ में क्षति स्रोत पाठ की ही होती है। विषयवस्तु को बदलने अथवा

उससे विचलन करने का मतलब होता है पाठ को उसके सांस्कृतिक मूल से विच्छिन्न करना। उदाहरणार्थ 'गोरा' के प्रथम और द्वितीय अनुवादों में अनुवादकों का औपनिवेशिक नजरिया शब्दों के अर्थ के संदर्भ में तथा उपन्यास के ऐतिहासिक प्रसंग के संदर्भ में बिल्कुल स्पष्ट हो गया है। लक्ष्य भाषा में मूल पाठ को प्रस्तुत करने के क्रम में उसका सांस्कृतिक वैभव अक्षुण्ण नही रह पाया है। औपनवेशिकों द्वारा किये गये देशी पाठों के अनुवादों में यह दोष प्रायः विद्यमान रहता है।

उत्तर-औपनिवेशिक अनुवादों में स्रोत पाठ और लक्ष्य पाठ को समान महत्त्व मिलता है। वहाँ भाषा अथवा संस्कृति का श्रेणीक्रम नही होता। इन अनुवादों में एक प्रकार से स्रोत पाठों के मूल में जाकर अनुवाद के माध्यम से उनका पुनर्परीक्षण करने का उपक्रम निहित होता है और अनुवाद मूल रचनाकार से भेंट करने का ज़रिया बन जाता है। यह स्रोत संस्कृति की तलाश का भी रूप ले सकता है। कह सकते हैं कि उत्तर-औपनिवेशिक अनुवादों में संस्कृति प्रधान कारक तत्व अथवा निर्देशी तत्व होती है। यह भाषा, पाठ, तथा संस्कृति का विउपनिवेशीकरण होता है अथवा उपनिवेशीकरण के अपघात से उबरने का उद्यम होता है। पहले संदर्भित प्रथम और द्वितीय अनुवाद औपनिवेशिक अनुवाद के उदाहरण हैं जिनमें भाषाओं के बीच स्वामी-सेवक का श्रेणीक्रम रेखांकित है जबकि उत्तर-औपनिवेशिक होने के कारण शेष तीनो अनुवादों में इस बात के चिन्ह खोजने पर भी शायद ही मिल पायें। इन अनुवादों में अनुवाद की उत्तर-औपनिवेशिक आधारों और प्रविधियों का इस्तेमाल किया गया हे। अनुवाद की भाषा के साथ ही **भासा** शब्दों के प्रयोग के माध्यम से पाठक के मन में मूल पाठ की स्मृति बनाये रखी जाती है। शब्द-सूची और भाषा संबंधी अनुवादकीय टिप्पणियों के रास्ते पाठक स्रोत पाठ में प्रवेश कर सकता है और उसकी तह तक पंहुच सकता है। इन अनुवादों में भाषा और संस्कृति के उपनिवेशीकरण के लक्षणों से सायास दूरी बनाये रखने पर बल दिया जाता है।

संभव हो सकता है कि अनुवाद में स्रोत पाठ को लक्ष्य बहुपद्धति में प्रमुख स्थान न मिल सके लेकिन इसकी अस्मिता पर कोई आँच नही आने पाती। 'गोरा' जैसे देसी पाठ के लिये जरूरी है कि वह अनुवादों में भी अपनी उपस्थिति का अहसास कराता रहे। औपनिवेशिक अनुवादों में सर्वाधिक क्षरण स्रोत पाठ की उपस्थिति अथवा अस्मिता का ही होता है। पाठ की पहचान और इसको जन्म देने वाली ऐतिहासिक अथवा सोस्कुतिक पीठिका से पाठ को यथासंभव दूर रखना औपनिवेशिक अनुवाद का एक प्रमुख उद्देश्य होता हैं जिसके चलते स्रोत पाठ या तो गौड़ बन जाता है अथवा उसे विमर्श के हाशिये पर ढकेल दिया जाता है। 'गोरा' के औपनिवेशिक अनुवादों में उपर्युक्त बातों के प्रमाण आसानी से मिल जायेंगे। 'गोरा' के आपनिवेशिक अनुवादों में उपन्यास की सांस्कृतिक पीठिका से लक्ष्य पाठक अपरिचित ही रह जायेंगे क्योकि इनमे उस पीठिका को लगभग पूरा का पूरा छोड दिया गया है। स्रोत पाठ की सांस्कृतिक पीठिका से अनजान औपनिवेशिक अनुवादकों के पाठकों द्वारा इसके भ्रामक पठन (misreading) की आशंका बनी रहती है।

हमें इस बात पर भी विचार करना चाहिये कि स्रोत पाठ में आये हुये सांस्कृतिक पद अथवा शब्द लक्ष्य पाठ में क्यों प्रवेश कर जाते हैं अथवा उनका प्रवेश क्यों करा दिया जाता है। ऐसा क्यों होता है कि अनुवाद के क्रम में वे ज्यों के त्यों लक्ष्य पाठ में विद्यमान रहते हैं? इसके कारणों की तलाश के लिये हमें उत्तर-औपनिवेशिक सैद्धांतिकी का सहारा लेना पड़ेगा। इस सैद्धांतिकी में भाषाओं के वर्चस्व को स्वीकार नही किया जाता। स्रोत भाषा और लक्ष्य भाषा एक ही धरातल पर रहती हैं और दोनों पर समान रूप से विचार किया जाता है। औपनिवेशिक

अनुवादों के दौर में स्रोत भाषाएँ अंग्रेजी की दासी मानी जाती थीं। उत्तर-औपनिवेशिक अनुवाद एक प्रकार से सोत पाठ और उसके सांस्कृतिक पक्ष की ओर लौटने का मामला होता है जिसके तहत स्रोत बहुपद्धति लक्ष्य पाठ में प्रवेश कर जाती है तथा लक्ष्य पाठ का पाठक स्रोत पाठ की जड़ों और उसकी संस्कृति का पुनरावलोकन करता है। इस तरह 'गोरा' के अलग-अलग अनुवादों का पाठन उपन्यास के बहु-पाठन जैसा होता है। तरुण मुखर्जी ने 'गोरा' के विभिन्न अनुवादों के पाठन के क्रम में होने वाले अनुभवों को इन शब्दों में व्यक्त किया है :

''यह एक तथ्य है कि टैगोर के संदर्भ में शब्द और भाषा-प्रयोग का बहुत महत्त्व है, विशेष रूप में 'गोरा' जैसे उपन्यास में जिसमें राष्ट्रवाद, धर्म, जाति, लिंग तथा स्वत्व जैसे विषयों पर विचार किया गया है। उपन्यास के अनेक अनूदित पाठ पाठक-अनुवादक द्वारा अनुभव किये जाने वाले विलोपनों, परिवर्तनों तथा रूपांतरणों की ओर ध्यान खींचते हैं।'' (155)

यही नहीं बल्कि अनुवादों में पाठक समानार्थकता की तलाश करता है क्योंकि समानार्थकता आवश्यक तत्व होती है। काव्यात्मकता भी भाषा का अंग होती है और अनुवाद के क्रम में इसकी पहचान करने का भी प्रयास आवश्यक होता है। भाषा का सौदर्य और उसकी सौम्यता का अपना अलग महत्त्व होता है और अनुवादक का प्रयास यह भी होना चाहिये कि अनुवाद करते समय वह इन्हे भी क्षत-विक्षत करने से बचे। इन तत्वों की उपस्थिति से भाषा के लालित्य में अभिवृद्धि होती है। अनुवाद-सैद्धांतिकी में अनुवाद के सूचनात्मक प्रकार्य का भी ज़िक्र भी कहा जाता है लेकिन इसे ही सब कुछ नहीं मान लेना चाहिये। इस प्रकार अनुवाद में अनौपचारिकता सहित भाषा के अन्य आयाम भी विचारणीय होते हैं। स्रोत पाठ में मौजूद सब कुछ को अनूदित करना संभव नहीं होता लेकिन अनुवादक को अपनी सुविधा के अनुसार संग्रह-त्याग का निर्णय नहीं लेना चाहिये। किसी भी पाठ का अनुवाद करते समय अनुवादक को यह स्मरण रखना चाहिये कि केवल बाज़ार तथा ग्राहकों को ध्यान में रखकर किये गये अनुवाद में भाषा का ही सबसे अधिक नुकसान होता है और इसके तमाम पक्ष अपना पावना पाने से बंचित रह जाते है। अनुवादक द्वारा तैयार किया गया लक्ष्य पाठ के सार्वभौमिक पाठ की श्रेणी में शामिल होने की संभावना हमेशा बनी रहती है और इस कारण उसकी यह जिम्मेदारी और बढ़ जाती है कि वह स्रोत पाठ की सांस्कृतिक अस्मिता को अनूदित पाठ में यथासंभव विरूपित न होने दे क्योंकि यह सांस्कृतिक अस्मिता ही होती है जिसका भूमण्डलीकरण नही किया जा सकता। यही नही बल्कि स्रोत पाठ के रचनाकार और उसकी आंचलिक स्थिति को अनूदित पाठ की सीमाओं के भीतर उचित सम्मान दिया जाना चाहिए।

संदर्भित ग्रंथ

1. *असदुद्दीन, एम. '***गोरा** *इन उर्दू ट्रांसलेशन' : क्वेश्चन ऑव अथॉरिटी, लेजिटिमेसी, आथेंटिसिटी'': अनीसुर्रहमान (सं.): ट्रांस्लेशनः पोयटिक्स एण्ड प्रैक्टिस, नई दिल्लीः क्रियेटिव बुक्स, 2002*
2. *बेंसेट, सुसन और त्रिवेदी, हरीशः पोस्ट-कोलोनियल ट्रांस्लेंशनः थियरी ऐण्ड प्रैक्टिस, लंदनः रूटलेज, 1999*
3. *चक्रवर्ती, राधा, ''इण्ट्रोडक्शन'',* **गोरा**, *ट्रांस्लेटेड बाय राधा चक्रवर्ती, नई दिल्लीः पें गुइन 2009, (v-xxv)*
4. *मुखर्जी, सुजित, ''ट्रांसलेटर्स प्रिफेस ऐण्ड ट्रांस्लेटर्स नोट्स''* **गोरा** *ट्रांस्लेटेड बाय सुजित मुखर्जी, नई दिल्लीः साहित्य अकादमी 1997*
5. *मुखर्जी, तुतुन, ''ट्रांस्लेशन, कम्युनिकेशन एण्ड युटोपियाः रि-डिस्कवरिंग* **गोरा**'', *अनीसुर्रहमान (सं.): ट्रांस्लेशनः पोयटिक्स एण्ड प्रैक्टिस, नई दिल्लीः क्रियेटिव बुक्स, 2002*
6. *टैगोर रवींद्रनाथः* **गोरा** *(बांग्ला), कोलकताः विश्व भारती, 1909; 1407 बाँग्ला संवत् (2002 ई.) पुनर्मुद्रित*
7. *टैगोर, रवींद्रनाथः* **गोरा**, *अब्रिज्ड ऐण्ड सिम्पलिफाइड बाय इ. इ. डॉडः मद्रासः मैक्मिलन, 1964, 1978 पुनर्मुद्रित*

8. *टैगोर, रवींद्रनाथः* **गोरा,** *ट्रांस्लेटेड इनटु इंग्लिश बाय मोहित के. रे एण्ड रमा कुण्डूः नई दिल्ली, अटलांटिक, 2008*
9. *टैगोर, रवींद्रनाथः* **गोरा** *ट्रांस्लेटेड इन्टु इंग्लिश बाय राधा चक्रवर्ती, नई दिल्लीः पेंगुइन, 2009*
10. *टैगोर, रवींद्रनाथ,* **गोरा**, *ट्रांस्लेटेड इन्टु इंग्लिश बाय सुजित मुखर्जी, नई दिल्लीः साहित्य अकादमी, 1997, 2010 पुनर्मुद्रित।*
11. *टैगोर, रवींद्रनाथ,* **गोरा**, *ट्रांस्लेटेड इनटु इंग्लिश बाय डब्ल्यू. डब्ल्यू. पियर्सन, लंदन ऐण्ड न्यू डेलहीः मैक्मिलन ऐण्ड रूपा, 1924 ऐण्ड 2002; 2009 पुनर्मुद्रित।*
12. *अबु सालेह, यूनिवर्सिटी ऑव हैदराबाद, हैदराबाद, भारत।*

(मूल अंग्रेजी भाषा में इस लेख का प्रकाशन इण्टरनेशनल जर्नल ऑव बंगाल स्टडीज़, 2013-2014, जिल्द 4-5 में पृ0 93-101 में हुआ था।)

गोरा : संवादधर्मी आधुनिकता का उदय

वैभव सिंह

रवींद्रनाथ टैगोर ने 'गोरा' (1909) उपन्यास लिखकर परंपरा, संस्कृति व मनुष्यता के संबंध में हलचल मचाते कई मूलभूत सवालों को बौद्धिक विमर्शों के केंद्र में स्थापित किया है। समाज में या तो माना जाता है कि संस्कृति ही सबकुछ है, मनुष्यता का कोई मोल नहीं है। खासतौर पर अगर संस्कृति का धर्म के साथ पूरी तरह घालमेल कर दिया जाए, तब यह खतरा और बढ़ जाता है। संस्कृति की दानवाकार उपस्थिति के आगे व्यक्ति उपेक्षणीय हो जाता है। दूसरी ओर मूल-मिट्टी से विच्छिन्न व्यक्ति को इतना महत्त्व प्रदान कर दिया जाता है कि व्यक्तिवाद को समर्थन के नाम पर संस्कृति के कई बारीक तत्वों व संस्कृति से मनुष्य के चले आते संबंधों को अनदेखा करने की जल्दबाजी दिखाई जाती है और इससे एक निस्तेज क्रांतिकारिता का छद्म आभास मिलता है।

टैगोर ने 'गोरा' तब लिखा था जब उन्हें नोबल पुरस्कार नहीं मिला था और पूरे देश में जो राष्ट्रवाद जन्म ले रहा था, वह समूचे बौद्धिक चिंतन व मानवीय संबंधों को, खासतौर में शिक्षित वर्ग में, गहराई से प्रभावित कर रहा था। 'गोरा' से पहले टैगोर चार उपन्यास और लिख चुके थे पर 'गोरा' के विशाल कथा-फलक व तत्कालीन बहसों की जीवंत प्रस्तुति ने उन्हें सही मायने में उपन्यासकार के रूप में स्थापित किया। उनके दो अन्य उपन्यास 'घरे-बाइरे' (1916) व चार अध्याय (1934) भी विशेष चर्चित हुए और 'गोरा' उपन्यास भी मूल रूप में उनकी राजनीतिक व सांस्कृतिक आस्थाओं का दस्तावेज़ीकरण है। जिस समाज में धर्म को सबसे महत्त्वपूर्ण माना जाता हो, वहाँ किसी विशाल पारंपरिक समुदाय को नए ढंग से कल्पित व परिभाषित करने वाली राष्ट्र जैसी बड़ी अवधारणा भी धर्म के 'ब्लैकहोल' में खींच लिए जाने, गुम होने व विकृत होने के ख़तरों से गुजरती है। भारत में यह ख़तरा और अधिक था क्योंकि यहाँ राष्ट्र का जन्म देशव्यापी शिक्षा प्रसार, आधुनिकता को लेकर

प्रतिबद्ध मध्यवर्ग के जन्म या संस्कृति में गहन आलोचनात्मक प्रक्रिया से प्रभावित तो था पर ये सारी चीजें स्वयं बड़े आंशिक रूप में ही मौजूद थीं। उनका लंबा, स्थायी अनुभव भारतीय समाज को नहीं हो सका था। इसलिए रचनाकारों ने बार-बार इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि भारत को राष्ट्र बनने से पहले किन जरूरी संकीर्णताओं व पुरानी रूढ़ियों से लड़ने के लिए स्वयं को तैयार करना है। राष्ट्र का जन्म भले ही उपनिवेशवाद के खिलाफ हुआ हो पर उसे धर्म-संस्कृति से जुड़े पूर्वग्रहों व बेचैन करने वालों सवालों से टकराते हुए ही आगे बढ़ना पड़ता है। इसी प्रकार राष्ट्र से जुड़ा ऐतिहासिक कार्यभार यह भी था कि ऐसा वर्ग सामने लाया जाए जो ऐतिहासिक दायित्वों को समझते हुए स्वयं को राष्ट्र का योग्य तथा सर्वस्वीकार्य प्रतिनिधि सिद्ध कर सके। गोरा का कथानक भी इन्हीं प्रवृत्तियों खासतौर पर शिक्षित मनुष्य की कई दुविधाओं की बेबाक गवाही देता है और स्वयं के ऊपर थोपे गए निरर्थक ऐतिहासिक दायित्वों की सीमाओं से परिचित कराता है।

उपन्यास का नायक गौरमोहन यानी गोरा पढ़ा लिखा व्यक्ति हैं और अंग्रेजी ज्ञान भी उसका काफी अच्छा है। वह अक्सर कलकत्ता की भीड़ भरी सड़कों पर घूमता दिखता है। सड़क पर तेजी से चलता एकाग्रमना गोरा एक नए जन-नायक के आगमन का सूचक है जिसे कुछ दुःखद संयोगों व आत्मप्रयास के बल पर बहुत सारी वैचारिक भ्रांतियों से मुक्ति प्राप्त करनी है। वह देशभक्त हिंदू है जो मिशनरियों, अंग्रेज़ों, समाज सुधारकों आदि किसी के मुँह से हिंदू धर्म की निंदा नहीं सुन सकता है। विरोधी पक्ष से बहस में वह किसी प्रकार की दया नहीं करता और उसके भीतर शिकारी जंतु जैसी हिंसा जाग उठती है। वह चौड़े माथे व तगड़ी काया का है और अक्सर माथे पर तिलक लगाए रखता है। उसके बारे में लिखा गया है- 'देखने पर गौरमोहन को सुंदर नहीं कहा जा सकता, किंतु उसे देखे बिना रहा भी नहीं जा सकता।' वह कृष्णदयाल नामक पूर्व सरकारी नौकर व जाति से ब्राह्मण इंसान के परिवार में बचपन से पाला पोसा गया है। कृष्णदयाल नौकरी से सेवानिवृत्ति के बाद से काफी कर्मकांडी हिंदू बन गए हैं और छुआछूत व पवित्रता के भाव से इतना ग्रस्त हैं कि अपनी पत्नी आनंदमयी व गोरा से भी बचते फिरते हैं। गोरा भी एक समय ब्रह्म-समाज की ओर झुकाव रखता था और शास्त्र-लोकाचार की निंदा भी करता था। पर अंग्रेज मिशनरियों ने जब हिंदू धर्म पर आक्रमण किया तब वह अपनी देशभक्ति के कारण इसे सहन न कर सका और उसे लगा कि किसी विदेशी को यह अधिकार नहीं है कि अपनी अदालत में पूरे देश को अभियुक्त की तरह खड़ा करे। उसके बाद उसने हिंदू धर्म के समर्थन में पुस्तक लिखी और शिखा रखने, गंगा स्नान करने व संध्या-वदन जैसे कार्य आरंभ कर दिए। वह हिंदू हितैषी सभा का सभापति बनता है। वह मानता है कि ख्रिस्तानी शिक्षा का फंदा पड़ा होने के कारण लोग हिंदू धर्म के वास्तविक रूप को विस्मृत कर रहे हैं।

गोरा का मित्र है विनय, जिसके बारे में उपन्यासकार का कहना है कि उसकी पढ़ाई बहुत दिन हुए पूरी हो गई थी, पर संसारी जीवन में अभी उसका प्रवेश नहीं हुआ था। विनय पर गोरा के विचारों का गहरा प्रभाव है और वह भी मानता है कि अंग्रेजों द्वारा किए जा रहे दमन के इस दौर में ब्राह्मणों के पाप, जात-पांत या अस्पृश्यता जैसी बुराई की आलोचना नहीं की जानी चाहिए। गोरा और विनय के अलावा उपन्यास में ब्रह्म धर्म के अनुयायी परेश बाबू का परिवार है जिसमें सुचरिता, ललिता, लावण्य, लाली आदि लड़कियाँ व उनकी माँ वरदासुंदरी मौजूद हैं। इसी परिवार में हारान बाबू का आना-जाना है जो स्वयं ब्रह्म समाज

के सदस्य हैं और अपनी बुद्धि व विद्वता के लिए उनकी विशेष ख्याति है। माना जाता है कि उनका विवाह सुचरिता के साथ ही होगा। उपन्यास में विनय का परिचय परेश बाबू से तब होता है जब एक दिन अकस्मात उनकी बग्घी उलट जाती है और अपने घर लाकर विनय उनकी सेवा सत्कार करता है। इसी के बाद उसका परेश बाबू का परिवार में आना-जाना आरंभ हो जाता है और विनय उस परिवार की लड़कियों से मिलकर अपने भीतर यौवन के पदार्पण का अनुभव करता है। उस साधारण परिवार के भीतर भी उसके लिए अचरज भरा जगत प्रकाशित हो उठता है। पर गोरा को लगता है कि विनय मार्ग भटक रहा है इसलिए वह विनय को ब्रह्म-समाज से जुड़े परेश बाबू के परिवार से अलग रखने की सलाहें देता रहता है। कई बार स्वयं परिवार में पहुँचकर ब्रह्म-समाज द्वारा देश के बहुसंख्यकों की अनुचित आलोचना के ख़िलाफ़ तर्क भी देता है और आरंभिक विरक्ति के बाद सुचरिता धीरे-धीरे उसके प्रति आकर्षण का अनुभव करने लगती है। गोरा को कट्टर, समझौताविरोधी हिंदू चरित्र के रूप में चित्रित किए जाने के बावजूद उसके करुणावान हृदय, देश के लोगों से सच्चे लगाव व अंग्रेजों से द्वेष के रूप में उसके व्यक्तित्व के सबल पक्षों को उपन्यास में बखूबी उभारा गया है। स्टीमर के फर्स्ट क्लास में बैठकर बेबस, असहाय यात्रियों के दुःखों का मजाक उड़ाते अंग्रेज़ व बंगाली को वह लताड़ता है। सिर पर बोझा ढोकर ले जा रहे मुसलमान को जब घड़ी-चेन पहने बाबू गाड़ी की टक्कर से गिरा देता है तो वह मुट्ठियाँ भींचकर उसकी गाड़ी के पीछे गुस्से से दौड़ता है। मुसलमान को घर लाकर उसे संभालता है, पैसे देता है। निम्न जाति के लोगों से मिलता-जुलता है और गाँव की यात्रा करता है ताकि वह देश की वास्तविकता को समझ सके। एक मुस्लिम गाँव में उसे अंग्रेज़ों के अत्याचार का साक्षात्कार होता है जहाँ किसानों को नील की जगह धान उगाने की जुर्रत करने के कारण जबरन मारा-पीटा जा रहा है, हवालात में डाला जा रहा है। गोरा जब मजिस्ट्रेट से शिकायत करता है, तो उलटा उसे ही एक महीने के कारावास की सज़ा प्रदान कर दी जाती है। इस प्रकार आरंभ से ही लेखक गोरा में जबरन ओढ़ी हुई कट्टरता के भीतर गहराई तक पैठे सच्चे मनुष्यत्व का परिचय करा कर उसके दिलचस्प नायकत्व को असंदिग्ध भी बनाता चलता है। उसका प्रतिक्रियावाद परिस्थितिजन्य व अस्थायी प्रतीत होता है और देश के प्रति रक्त-अस्थियों तक धँसा प्रेम वास्तविक व उदात्त दिखता है।

पर गोरा की इस विराट मानवीय करुणा व उदात्त व्यक्तित्व के विपरीत ब्रह्म समाजी हारान बाबू जैसे लोग हैं जो स्वयं तो बड़े आधुनिक, शिक्षित व समझदार बनने का दंभ करते हैं पर अंग्रेजों के सामने उनके शासन की प्रशंसा करते हैं और देश की दुर्दशा के प्रति संवेदनहीन बने रहते हैं। उन्हें भारतीयता का सच्चा बोध नहीं है और अंग्रेज़ियत से मौकापरस्त किस्म का जुड़ाव है। इस रूप में यह उपन्यास संवेदनहीन शिक्षित भारतीयों के पूरे समुदाय पर करारा व्यंग्य करता है जो शेष जनता के दुःख-दर्द में उसके साथ खड़ा होना तो दूर, उसकी पीड़ा का उलटा उपहास उड़ाकर स्वयं को समाज का सच्चा प्रतिनिधि बताता है। गोरा के जेल जाने के पश्चात परेश बाबू के घर में कई घटनाएँ तेज़ी से घटित होती हैं। उनकी मंझली साहसी लड़की ललिता को विनय से प्रेम हो जाता है और इसे लेकर ब्रह्म समाज व हिंदू समाज में खलबली मच जाती है। दोनों ही पक्ष के लोग इस संबंध के प्रति असहिष्णु दिखते हैं। उधर, सुचरिता परेश बाबू का घर छोड़कर अपनी हिंदू धर्माग्रही मौसी के पास के घर में रहने चली जाती है।

उपन्यास का कथानक कई जगह विचारों के क्रमिक विकास व कसावट के बावजूद ढीला है और अधिकांश प्रसंगों में लोग एक-दूसरे के घर आते-जाते ही नज़र आ रहे हैं। पर इस प्रकार पड़ोसी व परिचितों के घरों में लोगों के उन्मुक्त प्रवेश व वहाँ संपन्न बौद्धिक चर्चाओं की झलक प्रस्तुत करता है। इसमें दिल की कोशिश 'फुरसत के रात-दिन तलाशने' तक सीमित नहीं है बल्कि तीक्ष्ण विचारशीलता व द्वंद्व से भरे रात-दिन उसकी उपलब्धि हैं। यह ऐसा मध्यवर्गीय बौद्धिक परिवेश है जो अपने विस्तार के लिए नए प्रबुद्ध सदस्यों की खोज में रहता है। स्वयं टैगोर का पालन-पोषण विशाल संयुक्त परिवार के दायरे में हुआ था और वह एक प्रबुद्ध-जागरूक सदस्यों का परिवार था। विनय कभी सुचरिता के तो कभी परेश बाबू के घर जा रहा है। ललिता व सुचरिता गोरा व विनय के यहाँ आ-जा रही हैं। उधर हारान बाबू भी कभी घर आ रहे हैं, कभी घर से निकल रहे हैं। यानी पात्रों के एक-दूसरे के घरों में आवागमन से ही कथानक को गति मिलती है और ब्रह्म समाज व हिंदू धर्म, दोनों की ही कट्टरता व टकराव के दृश्य चित्रित होते हैं। अधिकांश स्थल हिंदुत्व, ब्रह्म समाज या रूढ़िवाद को परस्पर बहस को गति देते प्रतीत होते हैं। ललिता व विनय, दोनों पर हर तरफ से प्रहार होते हैं। यहाँ तक कि हारान बाबू भी अखबारों में ब्रह्म समाज की दुर्गति को लेकर अख़बारों में लेख प्रकाशित करते हैं और परेश बाबू के परिवार की सार्वजनिक आलोचना करते हैं। दूसरी ओर सुचरिता पूरी तरह से गोरा के व्यक्तित्व व विचारों के प्रति आकृष्ट होती चली जाती है और घर में ब्रह्म समाज से जुड़े साहित्य के स्थान पर गोरा द्वारा लिखित पुस्तक पढ़ती है। जेल से निकलने के बाद जब गोरा उससे मिलने घर आता है तो वह यह सोचकर लज्जित हो जाती है कि मेज पर फैली गोरा की पुस्तकें देखकर स्वयं गोरा क्या सोचेगा? जेल से आकर आत्मशुद्धि के लिए गोरा प्रायश्चित सभा का आयोजन करता है तो उसके पिता ही इसके विरुद्ध उसे चेतावनी देते हैं। गोरा नहीं मानता है तो अत्यंत रुग्णावस्था में उसके आगे वह यह राज़ खोलते हैं कि गोरा किसी हिंदू ब्राह्मण की संतान नहीं बल्कि आयरिश दंपती की संतान है। इटावा में 1857 के विद्रोह के दौरान भागती उसकी माँ गर्भावस्था में कृष्णदयाल के घर शरण लेने आई थी और गोरा को जन्म देने के पश्चात ही मर गई थी। यह सुनकर गोरा को पहले तो गहरा सदमा लगता है क्योंकि अब उसके लिए नीच जाति का होने के कारण हिंदुओं के समस्त मंदिरों के दरवाजे बंद हो गए हैं। पर सदमे से शीघ्र उबरकर स्वयं को मुक्त अनुभव करते हुए कहता है- 'आज मैं सारे भारतवर्ष का हूँ। मेरे भीतर हिंदू, मुसलमान, ख्रिस्तान किसी समाज के प्रति विरोध नहीं है।' वह यह भी महसूस करता है कि अब ऐसा पवित्र हो गया है कि चंडाल के घर भी अपवित्रता का डर नहीं रहा।

टैगोर ने अपने इस महान कालजयी उपन्यास में 19वीं सदी के अंतिम दशक में विकसित होती विविध आयामी राष्ट्रीय चेतना के कई पहलुओं पर प्रकाश डाला है। यह वह दौर था जब समाज सुधार करने वाले लोग उभरते राष्ट्रीय आंदोलन की विशालता के सामने अल्पमत होते जा रहे थे। दूसरी ओर हिंदू उग्रता व कट्टरता आसानी से देशभक्ति की प्रतीक व पर्याय बनने लगी थी। मिशनरियों व अंग्रेजों के अपमानजनक आचरण की प्रतिक्रिया में भी धार्मिकता की शरण ली जा रही थी, जैसा कि सुधारक से सांप्रदायिक व्यक्ति के रूप में गोरा के रूपांतरण से जाहिर होता है। सुधारकों को यह घमंड था कि वे नए विचारों के प्रतिनिधि हैं और इसीलिए अल्पमत में होने के बावजूद दूसरों से श्रेष्ठ हैं। सामान्य जनों से अहंकारपूर्ण दूरी बरतने में ही उनकी विशेषता निहित है। यानी जनता से दूरी बरतने लगे

थे और प्रायः उसका एक हिस्सा शिक्षितों द्वारा अंग्रेजी राज का समर्थन करने की पुरानी परंपरा को ही निभा रहा था। नई विकसित होती राष्ट्रीय मनोरचना के प्रति उसकी तटस्थता बरकरार थी और एक प्रकार का संकीर्ण मतवाद उसके भीतर फैल चुका था। शिक्षितों को क्लबनुमा जीवनशैली का अभ्यास हो गया था और वे पृथक आचार-विचार, उपासना व जीवनशैली को अपने आभिजात्य की पुष्टि के लिए प्रयोग करते थे। कर्मकांडी हिंदुओं की तरह ही वे भी पूरी तरह से आत्मोन्मुखी व अंतर्मुखी हो चुके थे और उनका आत्मगर्व जिन आधारों पर टिका था, उसका देश की भलाई व राजनीतिक मुक्ति से कोई संबंध नहीं था। उनकी आलोचना में भारतीय शिक्षितों द्वारा अंग्रेजों के पास पिटिशन दाख़िल करने व रियायतें माँगने वाली राजनीति का अवसान देख सकते हैं। इसी प्रकार परंपरागत हिंदू यदि अपने जातपांत, कर्मकांडीय निष्ठाओं, धर्म-द्वेष, कुरीतियों के कारण विकासशील राष्ट्रीय चेतना के साथ पूरी तरह खड़े नहीं हो सकते थे। ब्रह्म समाज जैसे सुधारक संगठनों के अनुयायी देश के लोगों से सच्चा प्रेम करने के स्थान पर अपनी शिक्षा-आधुनिकता पर थोथा गर्व करने के कारण विकासशील नवीन चेतना को सही ढंग से आत्मसात करने में अक्षम थे। प्रायः राष्ट्र को अपने-अपने वैचारिक साँचे में खींच लाने के प्रयास हो रहे थे और इस प्रयास में राष्ट्र की ही संरचना को प्रभावित करने की कोशिश होती थी।

पर गोरा केवल राष्ट्रवाद के तनावों व उसके प्रसव-काल को व्यंजित करने वाली रचना नहीं है। इसमें दो अन्य चीज़ें भी दिखती हैं जिनमें एक है व्यक्ति की इकाई के बारे में विचारोत्तेजक चिंतन तथा परिवार के भीतर संबंधों की उथल-पुथल। व्यक्ति के विवेक व संप्रदाय-संगठन के विवेक के मध्य एक खास किस्म का द्वंद्वात्मक रिश्ता बनता नजर आता है। व्यक्ति के विचार प्रायः संप्रदाय-संगठन की बाध्यकारी शर्तों व बलपूर्वक थोपे गए विचारों से अपना बचाव करने में सफल नजर आते हैं। उदाहरण के लिए गोरा की माँ आनंदमयी खुले-मुक्त विचारों की महिला है जो अपने पति के धार्मिक पवित्रता संबंधी विचारों को स्वयं पर लादने से इंकार करती है। निम्नजाति की महिला को घर में नौकरानी बनाकर रखती है और रसोई में उससे काम कराती है। विनय हालाँकि गोरा के हिंदू संगठन का सक्रिय सदस्य है पर वह भी निरंतर रूपांतरित होता चरित्र है जो मित्रता को खतरे में डालकर गोरा से धीरे-धीरे असहमत होते हुए उदार चरित्र में बदल जाता है। परेश बाबू हालाँकि ब्रह्म समाज के निष्ठावान कार्यकर्ता व सदस्य हैं पर अंत में व्यक्ति-स्वाधीनता को बड़ा मानकर ब्रह्म धर्म के बंधनों को नकार देते हैं। इसी तरह ललिता व सुचरिता भी निरंतर विचारों के परिष्कार व परिवर्तन के प्रति खुलेपन का परिचय देकर दिमागी तौर पर गतिशील व्यक्ति-चरित्र का उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। पर इसके विपरीत ऐसे पात्र भी बहुतायत में हैं जो व्यक्ति-विवेक का प्रतिनिधि बनने के स्थान पर धर्म-संप्रदाय द्वारा रचित विचारधारा के प्रतिनिधि बनने में अधिक गौरव का अनुभव करते हैं और इनमें गोरा, हारान बाबू, वरदासुंदरी व हरमोहिनी आते हैं। बाध्यकारी व निरंतर संत्रस्त करने वाली विचार सरणियों के आतंक व हिंसा से पहली श्रेणी के पात्र उबरते दिखते हैं तो दूसरी श्रेणी के चरित्र निरंतर उनके प्रति वफादारी का परिचय देने में विश्वास करते हैं। किसी कुशल कथा-योजना की तरह उपन्यास में ललिता का चरित्र भी धीरे-धीरे विकसित होता दिखाया जाता है जो ब्रह्म समुदाय के प्रतिरोधों को न केवल स्वयं अस्वीकारती है, बल्कि विनय को भी हिंदू धर्म के त्याग से रोकती है क्योंकि उसे लगता है कि इससे विनय का पौरुषत्व व आत्मा को ठेस लगेगी जो एक प्रकार से

उसपर थोपा गया अन्याय होगा। गोरा भी हिंदू धर्म-निष्ठा का हवाला देकर चिंतन-मनन की स्वाधीनता के तर्क को नकारता है पर उसकी संवेदना उसके साथ कुछ और बर्ताव करती प्रतीत होती है। गाँवों में पहुँचने पर गोरा को मिले अनुभव उसके विचार-तंत्र को हिलाकर रख देते हैं। जो गोरा आचार-रूढ़ि के पालन को हिंदू धर्म-रक्षा के लिए अनिवार्य मानता है, वहीं गाँवों में आचार-विचार की कट्टरता व दकियानूसपन को देखकर कांप जाता है और उसे लगता है कि शहरों में अपनी बात को वह कल्पना के जिन मनोहर रंगों में सजाकर प्रस्तुत करता था, वही बात गाँवों में पूरी तरह से हानिकारक है। गाँवों में देश का नितांत दुर्बल व उघड़ा हुए दयनीय रूप उसे अपने विचारों के प्रति अविश्वास की ओर खींच ले जाता है। टैगोर के शब्दों में- 'मूर्खता भरी रूढ़िवादिता के भयानक दुष्परिणाम गोरा को इन देहातों में इतने स्पष्ट व इतने रूपों में दिखने लगे।' सामने कोई विरोधी या शत्रु न होने पर गोरा ज्यादा वस्तुगत नज़रिए से सच्चाई को पहचानने लगा क्योंकि अब उस पर किसी वकील की तरह कैसे भी अपनी बात सिद्ध करने का दबाव नहीं है। सत्य को किसी तरह के आवरण के भीतर से देखने की जरूरत भी नहीं रह गई है। इस प्रकार गोरा की कट्टर हिंदू वैचारिकता उसकी अपनी संवदेनशील चेतना के आगे बार-बार बौनी व नकली प्रतीत होती है। वह ईसाइयत की तर्ज पर बहुलताविरोधी व एकल धर्मी राष्ट्र को कल्पित तो कर लेता है पर भारत की विराट बहुलता व स्थानीय भिन्नता के समक्ष उसकी कल्पना चूर-चूर हो जाती है। वह उपनिवेशवाद का मुकाबला करने के लिए हर हाल में हिंदू धर्म का साथ देने की बात करता है पर कई मौकों पर स्वयं अनुभव करता है कि धर्म के वर्तमान स्वरूप से कहीं उपनिवेशवाद को सहायता तो नहीं मिल रही है? वह इसलिए क्योंकि वर्तमान धर्म मनुष्य को लोभी, कायर, क्रूर, भेदभावमूलक व अमानवीय बने रहने में कहीं सफल बाधा नहीं प्रस्तुत करता है बल्कि उसमें उसकी सहायता करता है।

टैगोर की पूरी कहानी कला की विशेषता है कि उन्होंने मनुष्य के लोभ-लालच की प्रवृत्तियों को नकारने के लिए दैहिक नश्वरता तथा धार्मिक उपदेशों का हवाला नहीं दिया है। हिंसक राष्ट्रवाद का संबंध मनुष्य की पाशविक वासना व लालच की संतुष्टि से होता है। धर्म-हिंसा-राष्ट्रवाद, तीनों का गठबंधन साधारण मनुष्य की सत्ता को नकार कर ही शक्तिशाली होता है। टैगोर का लेखन इस गठबंधन के ख़तरे से सचेत करता है तथा उसमें किसी अंधविश्वास तथा कर्मकांडीय जड़ता को गौरवान्वित नहीं किया है। मनुष्य के लोभ लालच की आलोचना के लिए धार्मिक कथाओं व जीवन की निस्सारता के प्रसंगों को नहीं उठाया है। धर्म ने मनुष्य को वासना व लोभ के मार्ग से विचलित करने के लिए मानव जीवन के आगे मृत्यु के सत्य को रखा है। यह साबित करना चाहा है कि मानव जीवन इस विराट सृष्टि चक्र के समक्ष बहुत क्षणभंगुर है और उस क्षणभंगुरता के सत्य को समझना ही सत्य की एकमात्र समझ है। दूसरी ओर आधुनिक साहित्य ने भी मनुष्य के लालच, अपार धनसंचय की विकृति तथा बेलगाम वासना के विषय को उठाया है। पर उसने इसके लिए भिन्न मूल्यों व दृष्टि का सहारा लिया है। उसने मनुष्य के जीवन को निरर्थक बताने के स्थान पर रोज़मर्रा के जीवन, उसके उल्लास, सुख-दुःख आदि का चित्रण किया है। सुखप्रद साधारण कामों के महत्त्व का वर्णन किया है। इन सुखप्रद साधारण कार्यों से वंचित लोभी मनुष्य को दुर्भाग्यग्रस्त मनुष्य की कोटि में रखा है। टैगोर अपनी एक कहानी 'गुप्तधन' में स्वर्णभंडार की खोज में पड़े दुर्भाग्यग्रस्त मानव का ही वर्णन करते हैं। कहानी में कथ्य कहीं यह संकेत

नहीं करता कि उस लोभी चरित्र का लोभ जीवन की क्षणभंगुरता के कारण त्याज्य या निंदनीय है। कथ्य यह बताता है कि उसके लोभ-लालच ने उसे गाँव-घर की तुच्छ व क्षुद्र समझी जाने वाली चीजों से भी वंचित कर दिया है। इसलिए जब वह गुफा में दमकते सोने के भंडार के बीच कैद हो जाता है तो उसे ईश्वर या धर्म नहीं याद आता है। उसे साधारण लोगों का जीवन संपूर्ण मणि-माणिक्यों से अधिक मूल्यवान प्रतीत होने लगता है। उसे याद आती है गोधूलि बेला, सांध्य-तारा, आरती का घंटा, हाट-बाजार से लौटे गाँव के किसान, नदी पार करते लोग। घासपात की गंध, गोशाला में दीपक जलाती बहू, आँगन में सोता उसका कुत्ता। इस प्रकार लालची मनुष्य की आलोचना के धर्म संबंधी तथा आधुनिक साहित्य के आधार भिन्न-भिन्न रहे हैं। इस प्रकार जनजीवन से अर्थपूर्ण-भावपूर्ण लगाव के लिए टैगोर ने अपने कथा-साहित्य का प्रयोग किया है। स्वयं उनकी परवरिश जोड़ासांको के जिस विशाल ठाकुर परिवार में हुई थी, उस घर के नौकर-चाकर, साथी-संगी, रिश्तेदार उनके मन को प्रभावित करते थे। कलकत्ते के सदर स्ट्रीट के एक अन्य घर के बरामदे से उन्होंने कुली-मजूर, फेरीवाले, साधारण लोगों को देखकर मानव देह की गति के संगीत का जो अनुभव किया था, उसके बारे में अपने संस्मरण में लिखा है।

परिवार के भीतर संबंधों की नवीन उद्भावनाएँ तथा उथलपुथल भी टैगोर के उपन्यासों का प्रमुख विषय रहा है। उनके औपन्यासिक परिवार स्थिर, जड़ या दोहरावमूलक जीवनशैलियों के बंधनों से जकड़े हुए नहीं हैं बल्कि उनमें समाज के भीतर लगातार चलने वाली बौद्धिक-राजनीतिक प्रवृत्तियों के प्रति भावप्रवण खुलापन व कुशाग्र प्रतिक्रियाएँ भी मौजूद हैं। 'घरे-बाइरे' में नायिका विमला धीरे-धीरे राष्ट्रवादी नायक संदीप की ओर खिंचाव महसूस करती है और जीवन को अलग तत्वमीमांसीय धरातल पर ले जाती है। इसी प्रकार चार अध्याय में अतीन के रूप में पात्र उग्रवादी आंदोलन में सम्मिलित होता है और उसी गुट की सदस्या एला से उसके संबंधों के त्रासद घुमावों का चित्रण किया गया है। बड़े सामाजिक विमर्शों को वह प्रायः परिवार व स्त्री-पुरुष के कोमल संबंधों के धरातल पर जाकर उठाते हैं। उपन्यास में चार लड़कियों वाले परेश बाबू के परिवार में गोरा का किसी उग्र आँधी की तरह प्रवेश होता है और ब्रह्म समाज हारान बाबू वहाँ अपनी एक अलग वैचारिक उपस्थिति रखते हैं। एक प्रकार से परेश बाबू के परिवार का विखंडन, उसकी भिन्न दिशाओं में गति व भीतरी आलोड़न पूरे राष्ट्र का दर्पण प्रस्तुत करता है। सुचरिता व ललिता क्रमशः गोरा व विनय की जीवनसंगिनी बनकर जैसे यह सिद्ध करती हैं कि स्त्रियाँ अब किसी कम महान व कम राजनीतिक समझदारी रखने वाले मूर्ख पुरुषों के चक्कर में पड़कर जीवन का बेड़ा गर्क़ नहीं करेंगी। वे अब देश से सच्चा प्रेम करने वाले पुरुषों के साथ मिलकर किसी बड़ी राष्ट्रीय भूमिका की दिशा में जीवनयात्रा करेंगी। परेश बाबू भी जब प्रेम-करुणा के मूल्यों को अधिक महत्त्व देकर ब्रह्म समाज से बहिष्कृत होते हैं, तब भी जैसे राष्ट्र व समाज हित के पक्ष में परिवारों की टूटन-विखंडन का सत्य ही अधिक सामने आता है। यह भी कह सकते हैं कि यह प्रक्रिया मूलतः मध्यवर्ग के द्वारा आत्मसंतुष्टि व अमूर्त वैचारिकता के खोखले आदर्शों से बाहर आने की ऐतिहासिक व्यंजना भी प्रस्तुत करती है। पर इससे पहले यह परिवारों की स्त्रियों की भी नई छवियाँ पाठकों के मन में रोपने में सफल होता है।

बंगाली परिवार 19वीं सदी में अपनी रूढ़िवादिता के लिए कुख्यात थे। सती प्रथा के कई घिनौने रूपों की वहाँ उपस्थिति शिक्षित वर्ग के लिए अपराध-बोध सरीखी थी। इसी प्रकार

स्त्रियों को प्रायः धर्म के सर्वाधिक भद्दे, मूर्खताजन्य व विकृत रूपों का संरक्षक माना जाता था और परिवार सांस्कृतिक-धार्मिक रूढ़िवाद के आदर्श पोषक के रूप में दिखते थे। ऐसे सामाजिक परिवेश में परिवार के भीतर आलोचना-चिंतन की उपस्थिति, मुक्त-साहसी स्त्री का चित्रण व प्रेम विवाह जैसे दुस्साहिक प्रयास दिखाकर लेखक केवल यथार्थ नहीं बल्कि भावी समाज के स्वप्न की झलक को भी प्रस्तुत करता है। पारिवारिक परिवेश का यह प्रबुद्ध रूप उपनिवेशवाद के इन दावों की निरर्थकता को भी घोषित करता है कि भारतीय परिवार-संबंधों की निर्मितियाँ मूलतः अंधविश्वासों व गैर-राष्ट्रवादी सरोकारों से तैयार हुई हैं। यह भी स्मरण रखने योग्य है कि टैगोर को किशोरावस्था से इंग्लैंड व यूरोप की संस्कृति से गहरा परिचय था। 'माई रेमेनिसन्स' (मेरी जीवन स्मृति) में उन्होंने लंदन युनिवर्सिटी, इंग्लैंड तथा अंग्रेजी संस्कृति के बारे में कई प्रसंग लिखे हैं। वे बचपन में अंग्रेज़ अफसर की विधवा को विलाप-गान भी गाकर सुनाया करते थे। अंग्रेज़ी सभ्यता के प्रति उनके मन में किसी प्रकार का आतंक होने का सवाल ही नहीं उठता था। यूरोपीय जीवन समाज के अनुभव ने उन्हें सार्वभौमिकतावादी बनाया था। इसके अतिरिक्त वह स्वयं सुधारकों के परिवार से थे, इसलिए सुधारवाद बनाम राष्ट्रवाद की खींचतान पर टिकी बहस की पुख़्ता सूचनाएँ रखते थे। वह हिंसक व एकांगी राष्ट्रवाद के कटु आलोचक थे पर उस प्रक्रिया के कुशल अध्येता भी थे जिसके अंतर्गत राष्ट्रवाद भारतीय समाज में भीतरी गतिशीलता को जन्म दे रहा था। इसीलिए उन्होंने परिवारों को इस गतिशीलता के बीच से गुज़रते देखा। गोरा की अपनी माँ आनंदमयी व उसके पिता कृष्णदयाल जैसे एक ही राष्ट्र के भीतर विपरीत दिशाओं में जाते समाज को व्यंजित करते हैं। आनंदमयी उदार, सहिष्णु बनती चली जाती है और कृष्णदयाल कर्मकांडी धर्मनिष्ठ हिंदू। एक अपनी दयालुता व उन्मुक्तता में सभी को अपनाकर समावेशी संस्कृति का रूपक प्रस्तुत करता है तो दूसरा स्वेच्छा से बहिष्कार पर आधारित धार्मिक संरचना की कैद में धँसता चला जाता है। परेश बाबू के परिवार के दो सदस्य ललिता व सुचरिता जब आनंदमयी के परिवार के अंग बनते हैं तो जैसे उसका अघोषित निहितार्थ यही हो जाता है कि बड़ी विवेकसंपन्न नागरिक आबादी अब उदारतावादी भावनाओं की भूमि पर स्वयं को एकजुट करने के लिए तैयार है। इसी प्रकार विवेकसंपन्नता की कसौटी ही यह है कि वह कई अतिवादिताओं को नकार दे। इस प्रकार परिवारों का वैचारिक ध्रुवीकरण बेमानी हो जाता है और गोरा अगर परेश बाबू का आशीर्वाद लेता है तो ललिता व सुचरिता आनंदमयी के रूप में संकीर्णता-विरोधी व व्यापक दृष्टि वाले स्नेहशील मातृत्व की शरण में चली जाती हैं। वैचारिक कठोरताओं से पैदा होने वाली घृणा व दूरी पराजित होती है और विजय प्राप्त होती है, सहज स्वाभाविक उदार मानवीय संवेदनाओं को जिसमें सहचारीपन व सहभागीपन के मूल्यों को बल देने वाले सामाजिक नवनिर्माण के मिशन के बीज छिपे हुए हैं। यही वह कालखंड भी था जब पूरे यूरोप में इतिहास की धारणा बदल रही थी और ख़ासतौर पर प्रगति की धारणा का बोलबाला था और इतिहास के महान नायकों को इस धारणा के भीतर छिपे विकासवाद के अधीन कर दिया था। महान सेनानायक, जनरल, अकादमीशियन, वैज्ञानिक सभी इसी विकासवाद को पुष्ट करते हुए साम्राज्यवाद की उपलब्धियों की प्रशंसा में जुटे हुए थे। ऐसे ही कालखंड में टैगोर एक प्रकार से 'गोरा' जैसे उपन्यास में धार्मिक दलबंदी, अभिजात अलगाव व अन्यायविरोधी जीवन दृष्टि का विरोध कर एक प्रकार से विकासवाद के सबसे जटिल सांस्कृतिक आयाम से मोर्चा ले रहे थे। अंग्रेज़ों का विकासवाद हिंदुत्व के विकासवाद को प्रेरित करता

था जिसमें शक्तिशाली कौमों के विजेता होने की नियति को किसी वैज्ञानिक नियम की तरह दोहराया और प्रस्तुत किया जाता था। विकासवाद के धार्मिक-आध्यात्मिक आयाम भी उतने ही ख़तरनाक थे, जितने उसके आर्थिक-राजनीतिक आयाम।

एक अन्य स्तर पर गोरा उपन्यास अंग्रेज़ी सभ्यता के बरक्स भारतीय सभ्यता के मूल्यों की द्वंद्वपरक शिनाख़्त इस रूप में भी करता है कि वह अंग्रेज़ों के प्रभाव को समर्पण भाव से ग्रहण करने वाले भारतीयों का उपहास उड़ाता है। उपन्यास में दो स्थान पर अंग्रेज़ आते हैं। एक बार तब जबकि गोरा स्टीमर में यात्रियों की सहायता कर रहा है और यात्रियों की समस्या पर ध्यान देने के स्थान पर अंग्रेज़ एक बंगाली बाबू के साथ मिलकर उपहास उड़ा रहा है। वह अंग्रेज़ियत के भद्दे अनुकरण में अपना सम्मान देखता है और इसीलिए अंग्रेज़ के साथ बैठकर उसकी तरह बर्ताव की चेष्टा करता है। अपने शासक के अंधानुकरण में वह वास्तव में अपना सांस्कृतिक उच्छेदन करता है। मेज पर से अंग्रेज़ का अखबार उड़कर नीचे गिरता है तो बंगाली बाबू तुरंत उठाकर उसे देता है पर उपन्यासकार के शब्दों में 'बदले में थैंक्स तक नहीं पाया।' गोरा भारतीयों के अपमान व दुर्गति पर हँसने वाले पढ़े-लिखे लोगों के विरुद्ध तनकर खड़ा हो जाता है। इस घटना के बाद उपन्यासकार गोरा के बारे में बताता है- 'पढ़े-लिखे लोगों की सारी किताबी पढ़ाई और नकलची संस्कार के प्रति संपूर्ण उपेक्षा दिखाने के लिए ही गोरा ने माथे पर गंगा की मिट्टी की छाप लगाई थी और अदभुत ढंग के नए कटकी जूते खरीदे थे।' एक अवसर तब आता है जब गाँव के लोगों की रिहाई के लिए गोरा अंग्रेज़ मजिस्ट्रेट के सामने जाता है और पुलिस-प्रशासन की संवेदनहीनता के बरक्स गाँव वालों के आंदोलन का समर्थन करता है। वहाँ अंग्रेज़ मजिस्ट्रेट शिक्षा के अति प्रसार के नुकसान की चर्चा कर गोरा की बातों को काटने की कोशिश करता है। कहता है- 'नए बंगाली इतिहास की पुस्तकें पढ़कर बहुत बातें सीख गए हैं...इनसफरेबल...।' वह विद्रोह को अंग्रेज़ी कुशासन का परिणाम मानने के स्थान पर इसे भारतीयों के नैतिक पतन का पर्याय मानता है और इस नैतिक पतन से लोगों की सुरक्षा के लिए कहता हैः 'क्राइस्ट को स्वीकार किए बिना भारत वर्ष का धर्म-बोध कभी पूरा नहीं हो सकता।' इस पर अंग्रेजी में शिक्षित व स्वयं को सुधारक मानने वाले हारान बाबू उनकी हाँ में हाँ मिला देते हैं और एक प्रकार से भारतीयों के एक वर्ग की भोंडी अनुकरणशीलता का उदाहरण बन जाते हैं जो तेज गति से बढ़ते राष्ट्रीय आंदोलन के लिए अनुपयोगी होने जा रहा था। उपनिवेशवाद का लाभार्थी बने रहने के लिए राजनीतिक स्वतंत्रता से समझौता करने का युग समाप्त होने वाला था। 'गोरा' उपन्यास इस स्तर पर प्रतिक्रियावाद, रूढ़िवाद व राजनीतिक दासता, तीनों के केंचुल उतारकर नए परिमार्जित राष्ट्र के उभार का प्रवक्ता बन जाता है। उपन्यास आधुनिकता की ऐसी पटकथा लिखना चाहता है जिसमें आधुनिकता सामाजिक-धार्मिक भेदभाव तथा आत्मसीमित दंभी सुधारवाद की सीमाओं को लांघ कर समावेशी तथा लोकप्रिय रूप को विकसित कर सके। ऐसा करते हुए आधुनिकता सहिष्णु संवादप्रियता व समझदार आलोचना को भी प्रोत्साहित करती है।

इस रूप में गोरा नायकत्व को नए सिरे से परिभाषित करता है और ऐसे देशभक्त इंसान का रूप सामने आता है जिसकी चेतना नकलची संस्कारों के खिलाफ विद्रोह के कारण किसी भी विरोधी अतिवादिता की ओर आकृष्ट हो सकती है। वह अंग्रेज़ों की नकल पर सार्वदेशिक (कास्मोपालिटन) बनते लोगों की आलोचना करता है। जिस साल 'गोरा' प्रकाशित

हुआ, उसी साल गाँधी ने 'हिंद स्वराज' को भी लिखा था। हिंद स्वराज में भी भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों को साम्राज्य विरोध के रूप में गौरवान्वित करने, उनके प्रति बौद्धिक-सामाजिक आग्रह व्यक्त करने का प्रयास हुआ था। पश्चिम को शैतानी सभ्यता बताकर पूरब की सांस्कृतिक चेतना की उत्कृष्टता सिद्ध की गई थी। पर गोरा में पश्चिमी मूल्यों पर सीधा प्रहार करने के स्थान पर पश्चिम के विरुद्ध प्रतिक्रिया में किसी धार्मिक कट्टरता की ओर झुकाव के ख़तरों के बारे में आगाह किया गया है। स्वयं रवींद्रनाथ एक एशियाई किस्म की आधुनिकता के समर्थक थे और वह संस्कृति-बोध व सार्वभौमिकता के बीच समन्वय का पथ प्रशस्त करते थे। हिंद स्वराज की शक्ति अगर पश्चिम की कड़ी आलोचना विकसित करने में थी तो गोरा उपन्यास की बुनियादी ताकत वहाँ है जहाँ वह भारत जैसे पूर्वी समाजों के आत्मालोचन की आवश्यकता व उसकी रूढ़ियों की ओर हमारा ध्यान खींचती है। वह अंध-पश्चिमीकरण व अंध-परंपरावाद, दोनों के ही नकार में स्वस्थ सामाजिक संरचनाओं व राजनीतिक बोध के उदय को चिह्नित करती है। उसमें जड़-विहीन नकलची आधुनिकता से दूरी बरतने का सुझाव मौजूद है और खोखले दर्प से भरे अतीत प्रेम की अप्रासंगिकता की ओर स्पष्ट संकेत भी छिपे हैं। गाँधी पश्चिमी सभ्यता को अनीति की ओर झुकी तथा निरीश्वरवादी मानते थे, जबकि टैगोर किसी पश्चिम-पूर्व के टकराव या परस्पर विरोध की कल्पना नहीं करते थे। इस प्रकार हिंद स्वराज में गाँधी भारतीयों के सांस्कृतिक आचरण के पक्ष में तर्क निर्मित करते हैं जबकि 'गोरा' में टैगोर उस देसी-जातीय आचरण पर आक्रमण न करते हुए भी, और कहीं-कहीं उसके उदार रूपों की प्रशंसा करते हुए, उस आचरण को आत्मदंभ व अहंकार में परिणत हो जाने से रोकते भी हैं। हिंदुत्व की हिफ़ाज़त के लिए हमेशा ही युद्ध-सज्जा में रहने वाला गोरा अंत में चाहता है कि उसे नया जीवन मिले जहाँ उसकी देशभक्ति को धर्म पर निर्भर रहने से मुक्ति प्राप्त हो जाए। यहाँ लेखक किसी औपन्यासिक युक्ति की तरह पहले तो धार्मिक निष्ठा से भरी गोरा की देशभक्ति के माध्यम से राजभक्त व ज़मीन से उखड़े पढ़े-लिखे बंगालियों के पाखंड का मजाक उड़ाता है और फिर बाद में गोरा की देशभक्ति को भी धर्म संबंधी आग्रहों से आजाद करा देता है। सवाल यह है कि अगर गोरा को न पता चलता कि वह आयरिश दंपती की संतान है तो भी क्या उसका ऐसा क्रांतिकारी रूपांतरण संभव था? क्या विवेक केवल तभी प्राप्त हो सकता है जब दुर्लभ संयोग से भरी दुर्घटना का व्यक्ति के जीवन में प्रवेश हो? माना जाता है कि टैगोर अपनी रचनाओं में सुखांत को बहुत महत्त्व नहीं देते थे। एक करुण पीड़ा व हृदयविदारक अनुभव के बीच ही उनकी रचनाएँ समाप्त होती है। पर गोरा में सुखांत है और श्रेष्ठ विचार वाले भटके हुए नायक को सही मार्ग पर लौटते दिखाया गया है। गोरा की विजातीयता का उद्घाटन दरअसल उसकी निजी त्रासदी से कहीं अधिक भारत की सांस्कृतिक यात्रा की परिचायक है जिसमें विभिन्न धर्म-संप्रदाय, मत, समूह, संस्कृतियाँ उसके साथ जुड़ती चली गई हैं। इसलिए गोरा को यह पता चलना कि वह स्वयं गैर-हिंदू है और उसके पश्चात उसका कट्टरता से मोहभंग वास्तव में गंभीर आशय छिपाए हुए है। वह आशय यह है कि भारत की पहचान समिश्र संस्कृति के रूप में स्थापित हो चुकी है और किसी के विजातीय होने, गैर-हिंदू अथवा भिन्न-धर्मानुयायी होने से इसकी अस्मिता क्षरित नहीं होती बल्कि भीतर से दृढ़ होती जाती है। गोरा को जब पता चलता है कि वह हिंदू ब्राह्मण नहीं है तो निजी चेतना में अनायास खलबली मचा देने वाला यह ज्ञान भी भारत की वास्तविक पहचान व सांस्कृतिक यात्रा के बारे में उसके सही बोध को

विकसित करता है। इस प्रकार भारत को ईसाईयत, इस्लाम या यहूदी धर्मों वाले देशों की तरह एकलधर्मी बना देने के प्रयासों के मूल पर आघात होता है। उस हिंदू धर्म की परोक्ष आलोचना भी होती है जो कर्मकांडों का विशाल जखीरा खड़ा कर बहिष्कारवादी हो चुका है और जिसमें जन्मतः ही कोई हिंदू का दर्जा प्राप्त कर सकता है। एक तीर से दो शिकार जैसा कुछ। हिंदू धर्म की रूढ़ियों का बौनापन प्रकट हो जाता है और राष्ट्र की चेतना में धर्म के हस्तक्षेप को हतोत्साहित कर दिया जाता है। उपन्यास में महाकाव्यात्मकता के दर्शन बंगला साहित्य में सही मायने में टैगोर के आगमन के बाद ही हुए थे। यह महाकाव्यात्मकता केवल आधुनिकता की स्वीकृति से नहीं बल्कि उसके साथ आलोचनात्मक तनाव को गढ़ते हुए अपनी उपयोगिता सिद्ध करती थी। इस रूप में टैगोर के उपन्यास राष्ट्रवाद को आदिम वृत्तियों व पुरातन हिंसा के रंग में रंगने के खिलाफ मत प्रकट करते हैं। हिंदुत्व अगर राष्ट्रवाद को परिभाषित करेगा तो वह राष्ट्रवाद स्वयं में बहिष्कारवादी, हिंसक तथा घृणा-आधारित हो जाएगा। इसलिए जो गोरा एक खास अनभिज्ञता में हिंदुत्व की हिंसा की बुनियाद पर राष्ट्र की कल्पनाएँ कर रहा है, उसी हिंसा से वह बाद में अपनी कल्पनाओं को आज़ाद कर लेने में अपने जीवनोद्देश्य की सफलता देखता है। उसके गुरु परेश बाबू बन जाते हैं जो स्वयं ब्रह्म समाज की संकीर्ण आधुनिकता से खुद को मुक्त कर चुके हैं और हिंदुत्व के जाति संबंधी प्रथाओं के आधार पर उसकी मुश्किलों के बारे में पुख्ता पहचान रखते हैं। वह उस बौद्धिक वर्ग के प्रतिनिधि हैं जो अंग्रेज़ी शिक्षा व नए वातावरण के बारे में गंभीर सजगता रखते हैं। उन्हें साफ दिख जाता है कि हिंदू धर्म ने एक ओर अनार्य जातियों से समायोजन-समन्वय तो दूसरी ओर राजा-रजवाड़ों के बल पर धर्म-त्याग पर कड़े बंधन लगाकर अपनी शक्ति का विकास किया था। पर अंग्रेज़ी राज में दोनों ही प्रक्रियाएँ शिथिल हो चुकी हैं और अब वह जातपात-रूढ़िवाद के कारण मनुष्यत्व का अपमान करेगा तो उसके लिए आत्मघात सिद्ध होगा। नई समाज-रचना ऐसी है कि जिसने धर्म से बाहर निकलने के दरवाज़े खोल दिए हैं। धर्म की सीमाओं से परिचित होने के कारण वह या तो स्वयं को उसकी परिधि पर रखते हैं, या फिर से उससे बाहर। वह अपनी आस्तिकता को ब्रह्म समाज की अमूर्त व मूर्तिपूजा विरोधी उपासना पद्धति में सार्थक होता देखते हैं।

गोरा भारतीय उपन्यास के विकास क्रम को सकारात्मक ढंग से प्रभावित करने वाली रचना है। भारत में उपन्यासों ने आधुनिकता के विभिन्न रूपों को व्यक्त किया है और आधुनिक चेतना के विकास में उन्होंने शक्तिशाली माध्यम का कार्य भी पूरा किया है। उपन्यासों ने पिछड़ी सोच वाले घुटनग्रस्त समाज में लाखों लोगों को प्रेरित किया और उनकी कल्पनाओं को पंख प्रदान किए। न जाने कितनी ही कुंठित आत्माओं व परास्त जिंदगियों को नई ऊर्जा उपन्यासों से ही प्राप्त हुई। पर आधुनिकता आज के समय में पूँजीवाद की विकृतियों के कारण बहुधा अत्यंत निंदित व संदिग्ध अवधारणा बन चुकी है। आधुनिकता की आलोचना करना अपने में विचारधारात्मक परियोजना बन चुकी है। इसका एक कारण यह भी है कि आधुनिकता के स्वप्न को बड़े औद्योगिक स्वार्थों ने रौंद दिया और उसके स्थान पर अपनी ही विकृतियों के अनुरूप विकृत व लूट-खसोट पर टिकी आधुनिकता के रंगीन व भड़कीले चित्र हमारे आगे पेश कर दिए। स्वयं को आधुनिक कहलाने वाला मनुष्य सबसे अधिक संदेह पैदा करता है और पिछड़ेपन की निंदा करना किसी को हमेशा ही प्रगतिशील व गरिमावान नहीं बनाता है। इसका कारण यह भी है कि पुराने आचार-विचार व संस्कृति

को नष्ट करके जो विकल्प सामने रखे गए वे भी आधुनिकता को बल नहीं प्रदान करते हैं। पर बावजूद इसके आज भी आधुनिकता का विकास एक लंबित परियोजना की तरह हमारे सामने उपस्थित है और जो फूहड़ आधुनिकता हमारे ऊपर थोपी गई है, उसके ख़िलाफ़ प्रेमपरक, करुणाशील व विराटमना आधुनिकता का संघर्ष जारी रहना चाहिए। इस उद्देश्य में 'गोरा' जैसे उपन्यास हमारा पथप्रदर्शक हो सकते हैं जिसमें राष्ट्र व देशप्रेम के कई हिंसक तथा नकारात्मक रूपों का खंडन करते हुए नए आलोक में इन चीज़ों को देखने का प्रयास टैगोर ने किया है। अपनी निष्पत्तियों में यह उपन्यास देशप्रेम को खारिज नहीं करता बल्कि उसका नया मानवतावादी वैचारिक आधार उपलब्ध कराता है। देश और उसमें बसे करोड़ों लोगों को धर्म की कैद के अलावा हिंसक व धार्मिक भेदभाव पर आधारित राष्ट्रवाद की कैद से मुक्त कराने का संदेश देता है।

नवजागरण की यात्रा में रवींद्रनाथ टैगोर का 'गोरा'

अमरेन्द्र कुमार शर्मा

भारत और विश्व के ज्ञान और बौद्धिकता के भूगोल में 'नदी', 'यात्रा' और 'स्वप्न' का सबसे अधिक महत्त्व है। दुनिया के सभ्यताओं के विकास, संस्कृतियों के निर्माण और राजनीतिक इच्छाओं में इन तीनों का विशेष महत्त्व हमें इतिहास के 'क्लोज रीडिंग' से मिलता है। वास्कोडिगामा से लेकर हुवेन्सांग, अलबरूनी से लेकर इब्नबतूता और बर्नियर, नागार्जुन से लेकर राहुल सांकृत्यायन जैसे सैकड़ों नाम हमारे सामने हैं जिनकी यात्राओं और उनके देखे स्वप्नों ने इस 'दुनिया' को दुनिया के अर्थों में रचा। यूरोप और भारत के पुनर्जागरण चेतना में भी 'नदी', 'यात्रा', 'स्वप्न' का निर्णायक महत्त्व रहा है। इस पहलू पर इतिहास के तमाम मोडों के माध्यम से नए ढंग से अध्ययन, विश्लेषण की आवश्यकता है जिसे अन्य संदर्भों में करने की योजना मेरे मन में बनी हुई है।

मुझे रवींद्रनाथ टैगोर की नवजागरण–यात्रा के बारे में सोचते और 'गोरा' के संदर्भ से लिखते हुए सबसे पहले उनके द्वारा 1882 में लिखी प्रसिद्ध कविता 'निर्झर का स्वप्न भंग' की यह पंक्ति बार–बार याद आ रही है–

"मैं शिखर–शिखर पर दौड़ लगाऊँगा,
पर्वत–पर्वत पर लौट जाऊँगा,
ठठाकर हँसूंगा, कल–कल स्वरों में गाऊँगा गान
प्रत्येक ताल पर ताली बजाऊँगा। ...

अरे, मेरे चारों ओर
यह कठिन कारागार क्या है?
तोड़ो तोड़ो, इस कारा को भंग करो
आघातों पर आघात देते चलो।

अरे, आज पक्षी ने कौन–सा गाना गाया है?
सूर्य की किरणें आई हुई है"

रवींद्रनाथ टैगोर की इन पंक्तियों के साथ और कई पंक्तियों को पढ़ते हुए मेरे मन में रवींद्रनाथ टैगोर के बारे में एक साथ कई-कई बात संबद्ध और असंबद्ध रूप में याद आने लगती है, जिसे पढ़ते हुए, बहस करते हुए जानने की ललक बनी रहती थी। यहाँ मैं उनकी नवजागरण-यात्रा को समझने के लिए मुख्य रूप से उनके प्रसिद्ध उपन्यास 'गोरा' को आधार बनाना चाहूँगा। जाहिर है इस यात्रा में 'गोरा' के साथ रवींद्रनाथ टैगोर की अन्य रचनाएँ भी कभी साथ हो गई हैं और कभी दूर चली गई हैं। लेकिन उपन्यास के विश्लेषणों की तरफ जाने से पहले रवींद्रनाथ टैगोर का समय और स्वयं रवींद्रनाथ टैगोर की स्थिति के बारे में कुछ जरूरी बातों पर गौर करना आवश्यक इसलिए होगा ताकि हम नवजागरण की यात्रा में 'गोरा' के 'टेक्सचर' को संपूर्णता में समझ सकें।

07 अगस्त 1941, सावन के पूरनमासी का दिन, बादल अपने पाखें समेट रहा था, रवींद्रनाथ ठाकुर ने अपनी आँखें मूंद ली थीं। एक सम्पूर्ण सांस्कृतिक मनुष्य का अवसान हमारी धरती के हिस्से में उस दिन शामिल हो गया था। हमारी पीढ़ी को उनकी सर्जना का ऋणी होना चाहिए। रवींद्रनाथ ठाकुर राजनीतिक व्यक्ति नहीं बल्कि भारत के भूगोल में एक सांस्कृतिक मनुष्य के रूप में याद किये जाते हैं। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबंध के साथ-साथ संगीत, चित्रकारी (सत्तर की उम्र में उन्होंने चित्रकारी की शुरुआत की थी क्योकि वे मानते थे कि 'जिसे बात से नहीं कहा जा सकता उसे चित्र से कहना पड़ता है।'), अभिनय और स्थापत्य के विलक्षण चितेरे थे। यह महत्त्वपूर्ण है कि महात्मा गाँधी रवींद्रनाथ को 'गुरुदेव' कहा करते थे और रवीद्रनाथ महात्मा गाँधी को 'महात्मा' कह कर पुकार रहे थे। हम जानते हैं कि दोनों में कुछ बुनियादी सहमतियाँ थी लेकिन दुनिया को देखने के दृष्टिकोण में अंतर भी कम नहीं था। इन दोनों को हम बीसवीं सदी के भारत का चेहरा कह सकते हैं, और पुनर्जागृत होते भारतीय समाज की बौद्धिक उपस्थिति और पहचान भी।

उन्नीसवीं सदी की फिजां में तैरती वे तमाम घटनाएँ जो भारतीय भूगोल पर पुनर्जागरण–चेतना की लौ जलाने का प्रयास कर रही थी, वे कही न कही रवींद्रनाथ ठाकुर के लिए एक सांस्कृतिक जमीन तैयार कर रही थी। भारतीय अस्मिता नवजागरण की जमीन पर अपनी मुक्कमल जगह तलाश करती हुई विभिन्न वैचारिक सरणियों में करवटें ले रही थी, अपने 'होने' को स्थापित करने की प्यास लगातार बढ़ती जा रही थी। यह प्यास हमें बड़े पैमाने पर तत्कालीन समय के विचारकों में दिखलाई पड़ती है। 1828 में राजाराममोहन राय द्वारा 'ब्रह्म समाज' की स्थापना की गई जिसका 1843 में देवेन्द्रनाथ ठाकुर (रवींद्रनाथ के पिता) ने नेतृत्व किया था। 1829 में विलियम बेंटिक ने 'सती प्रथा' को गैर क़ानूनी घोषित कर दिया था। केशवचन्द्र सेन द्वारा महाराष्ट में 'प्रार्थना समाज' की स्थापना की गई थी। 1875 में दयानंद सरस्वती ने 'आर्य समाज' की स्थापना बम्बई में की। 'यंग बंगाल आंदोलन' में हेनरी विवयन देरेजियो द्वारा महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई जा रही थी। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने 'विधवा पुनर्विवाह' के समर्थन में आंदोलन चलाया। इनके द्वारा बंगाल में लगभग 35 महिला विद्यालय की स्थापना की गई। थियोसॉफिकल सोसायटी की स्थापना 1875 में न्यूयार्क में और 1879 में भारत के मद्रास शहर में की गई। 1888 में ऐनी बेसेंट इस सोसायटी की सदस्य बनी। आधुनिक शिक्षा देने का प्रयास ईसाई मिशनरियों द्वारा बड़े पैमाने पर किया जाने लगा। इसी जमीन पर रवींद्रनाथ का उपस्थित होना उनकी चेतना को एक ओर समृद्ध कर रहा था; तो दूसरी ओर बीसवीं सदी के पहले दशक

की उन तमाम घटनाओं को देखें जिससे रवींद्रनाथ रु-ब-रु हो रहे थे और उनकी विचार-सरणी प्रभावित हो रही थी। भारत और खासतौर से बंगाल इस दशक में अपने स्वरूप में काफी बदलावों को सहेज रहा था। 1905 में बंगाल विभाजन, स्वराज पार्टी की स्थापना, 1906 में ढाका में मुस्लिम लीग की स्थापना, 1907 में कांग्रेस का विभाजन और नरम दल-गरम दल के बीच उग्र राष्ट्रवाद का उदय, 1908 में खुदीराम बोस को फाँसी, बालगंगाधर तिलक की प्रखरता का उदय, 1909 में मार्ले-मिन्टो सुधार के तहत साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति की शुरुआत जैसी कई घटनाएँ घटीं। रवींद्रनाथ की समूची विचार–प्रणाली (सरणी) में 19वीं और 20वीं शताब्दी की पृष्ठभूमि और घटनाएँ सम्मिलित हुई हैं। रवींद्रनाथ कुछ बुनियादी बातों पर चिंतनशील थे, उनके जेहन में पूरब और पश्चिम की अवधारणा और उनपर बहस थी तो दूसरी ओर प्राच्य और पाश्चत्य चिंतन के विकल्पों पर बहस। उन्नीसवीं शताब्दी के आखिर में लिखे उनके लेख और बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक समय में लिखे उनके लेख अगर देखे जाएँ तो हमें रवींद्रनाथ के विचार में होते हुए परिवर्तन दिखलाई देते हैं, खासतौर से पूरब और पश्चिम; प्राच्य और पाश्चात्य चिन्तन के मसलों पर। 1887 में 'ए करेस्पोंडेंस' नामक लेख में उन्होंने लिखा–'जान पड़ता है कि आधुनिक विज्ञान के सारे अन्वेषण शांडिल्य, भृगु और गौतम ऋषियों को मालूम थे। दुःख है कि वेद–पुराण का युग बित गया है।' 1888 'में प्रीचिंग' नामक लेख में; 'ईसाई धर्म गिराकर हमें अपने हिंदू धर्म की रक्षा करनी है।' रवींद्रनाथ का यह विचार उनके 1901 के 'पूर्वी और पश्चिमी सभ्यता' वाले लेख में और भी अधिक तीक्ष्ण होकर सामने आता है; 'चाहे हम स्वतन्त्रता प्राप्त कर लें अथवा पराधीन ही रहें, किन्तु हमें अपने समाज में हिन्दी सभ्यता को पुनर्जीवन देने की आशा कभी नहीं त्यागनी चाहिए। हमारे इतिहास, धर्म, समाज या गार्हस्थ्य जीवन में राष्ट्र निमार्ण को स्वीकार नहीं किया है।' यह विचार सरणी 1907 के बाद से परिवर्तित होता हुआ दिखलाई पड़ता है। दरअसल प्राच्यवाद से पाश्चात्यवाद की ओर रवींद्रनाथ का आकर्षण प्राच्यवाद की प्रबल संकीर्णता और सामंती मूल्यबोधों के कारण कम हो रहा था और विज्ञान के विकास के साथ पाश्चात्यवाद ने तर्क की एक सरणी विकसित कर ली थी जिसमें रवींद्रनाथ को जनता की मुक्ति की आशा दिखलाई पड़ रही थी। दरअलस रवींद्रनाथ के सामने एक बुनियादी समस्या थी कि, 'हमारा देश सर्वदा शास्त्रों और पंडों से निर्देशित हुआ है, इसलिए विदेश से आये हुए सिद्धांतों को वेदवाक्य समझने की ही प्रवृति हममें है, क्योंकि हमारा मन आसानी से मुग्ध हो जाता है।' जिसे उन्हें अपनी रचनाओं के माध्यम से हल करना था। भारत में पुनर्जागरण की चेतना पैदा करने में रवीद्रनाथ के लेखन की बड़ी भूमिका मानी जाती है। इस चेतना में अपनी पहचान (अस्मिता) कायम करने का मुद्दा सबसे प्रबल दिखलाई देता है। यह मुद्दा समाज के हर चरण में हमें मौजूद दिखलाई देता है। दरअसल, रवींद्रनाथ की दुनिया में जमीन से निकलने वाली जन परम्पराओं की सुगंध और आधुनिकता की तर्कणा शक्ति मौजूद थी। परम्परा और आधुनिकता रवींद्रनाथ के यहाँ द्वंद के रूप में मौजूद है। इसी द्वंद्व से पहचान के सवालों को समझने की कोशिश रवींद्रनाथ टैगोर के यहाँ मिलती है। रवींद्रनाथ के लेखन और चिन्तन की यात्रा को भारत में पुनर्जागरण की यात्रा के साथ भी देखा जाना चाहिए। कुछ नमूने के तौर पर हम उनकी रचनात्मक यात्रा को देख सकते हैं।

'अस्त्रहीन होने पर शत्रु को किस प्रकार युद्ध में हराया जा सकता है।' स्कूली जीवन (जिसे रवींद्रनाथ टैगोर पसंद नहीं करते थे) की यह मौलिक चिंता रवींद्रनाथ की दुनिया को एक भिन्न किस्म का आकार दे रही थी। उसी दौरान अपने दादा (द्वारकानाथ, जो राजाराममोहन राय के निकट सहयोगी थे) के उत्साह बढ़ाने पर कविता की पंक्ति का लिखा जाना रवींद्रनाथ

के लिए हिरन के बच्चे में नए सींग निकलने जैसा उत्साह भर रहा था। गीत गोविन्द को पढ़ते हुए उनकी अनुभूति मूक हो जाया करती थी। उन्होंने अपनी 'जीवन–स्मृति' में लिखा -'गीतगोविंद को मैंने कितनी बार पढ़ा है बतला नहीं सकता। जयदेव जो कुछ कहना चाहते हैं वह कुछ भी मैंने नहीं समझा, लेकिन छंद और कथा को मिलाकर मेरे मन में जिस चीज की सृष्टि हुई वह मेरे लिए सामान्य नहीं है।' अपनी कविताओं में रवींद्रनाथ टैगोर ने कई बार जयदेव को याद भी किया है। साहित्य के उदेश्य और उसके सरोकारों पर रवींद्रनाथ की दृष्टि बेहद पैनी हैं, वे अपने लेख 'वास्तविकता' में साहित्य का लगभग एक एजेंडा प्रस्तुत करते हैं, वे कहते है–'लोग अगर साहित्य से शिक्षा पाने की चेष्टा करें तो पा भी सकतें हैं; लेकिन साहित्य लोगों को शिक्षा देने की बात ही नहीं सोचता। किसी देश में भी साहित्य ने स्कूल–मास्टरी का जिम्मा नहीं लिया।' दरअसल रवींद्रनाथ साहित्य को अपने समकालीन समय के सामाजिक इतिहास के रूप में देखते हैं जिसमें उनका मंतव्य बहुत ही साफ है, वे कहते हैं–'साहित्य का विचार करते समय दो चीजें देखनी होती हैं। पहली, विश्व पर साहित्यकार के हृदय का अधिकार कितना है; दूसरी, उसका कितना अंश स्थाई आकार में वयक्त हुआ है।' यह विचार रवींद्रनाथ टैगोर को अपने समकालीनों में सबसे अलग इस अर्थ में करता है कि अबतक संभवतः किसी ने भी यह नहीं कहा था कि 'विश्व पर साहित्यकार के हृदय का अधिकार' होना चाहिए। रवींद्रनाथ साहित्य को एक अंतरानुशासनात्मक विधा के रूप में देखते थे, वे यह मानते थे कि, 'चित्र और संगीत ही साहित्य के प्रधान उपकरण हैं। चित्र भाव को आकार देता है और संगीत भाव को गति देता है। चित्र देह है और संगीत प्राण।' ('साहित्येतर तात्पर्य' मासिक 'बंग दर्शन' में नवम्बर-दिसम्बर 1903 में प्रकाशित)

1932 में कलकत्ता विश्वविद्यालय में रवींद्रनाथ टैगोर ने विश्विद्यालय के स्वरूप पर एक भाषण दिया था, वह भाषण अपने आप में नई सदी के शिक्षा–संकुलों के लिए एक परिपत्र की तरह हो सकता है और विकसित होते भारत के लिए जरूरी तर्क। इस भाषण में ऐसी कई बातें हैं जिनपर अलग से बहस की जा सकती है मैं यहाँ मोटे तौर पर तीन बातें इस भाषण से उद्धृत करना चाहूँगा :

"कवि की कीर्ति स्तंभ की तरह नहीं, नौका की तरह होती है। भँवरों को पार करते हुए काल–स्रोत की सभी परीक्षाओं और संकटों से यदि वह नौका उत्तीर्ण हो सके, और अंत में यदि उसे लंगर डालने के लिए अच्छा-सा घाट मिल जाये, तभी साहित्य के स्थाई इतिहास–ग्रंथ के किसी पृष्ठ पर उसका नाम अंकित होता है।"

"देश की जनता के सारे दुरूह प्रश्नों से महत्त्वपूर्ण प्रयोजनों और तीव्र वेदनाओं से हमारे विश्वविद्यालय विछिन्न हैं।"

"सार्थक विश्वविद्यालय वही हैं जो ऐसे शिक्षकों को आकर्षित करता है, जहाँ शिक्षा की सहायता से मनोलोक की सृष्टि होती है। यह सृष्टि ही सभ्यता का मूल है। लेकिन हमारे विश्वविद्यालयों में इस श्रेणी के शिक्षक न होने से भी काम चलता है–शायद और भी अच्छी तरह चलता है।"

आजादी के बाद छीजते और बदलते मूल्यों, संवेदनाओं का कोई संस्थानीकरण नहीं हुआ था नब्बे के दशक में नई आर्थिक नीति के उभार ने समस्त मानवीय पहलुओं को संस्थानों और पण्य वस्तुओं में बदल दिया है। जाहिर है शिक्षा का ढाँचा और उसके नियामक तन्त्र ने प्रश्नाकुलता को सीमित कर दिया है। इक्कीसवीं सदी के आते-आते भारत के तमाम विश्वविद्यालय धीरे-धीरे एक गैर–उत्पादक कार्यों में इस कदर व्यस्त होने लगे थे कि उनके

हाथ से शिक्षा का महत्त्वपूर्ण एजेंडा छूटता जा रहा है। बदलते समय ने हमारे समय को न केवल असहनशील और असम्वेदनशील बनाया है बल्कि गैरज़िम्मेदार भी। रवींद्रनाथ टैगोर का समय कदाचित ऐसा नहीं था लेकिन ब्रितानी हुकुमत के औपनिवेशिक ढ़ाँचे ने भारतीय समय के तंतु को धीरे-धीरे कमज़ोर करता हुआ आहत करने लगा था, रवींद्रनाथ टैगोर की रचनाओं की बुनावट में हमें यह साफ़ दिखलाई देता है।

रवींद्रनाथ के समय में साम्राज्यवाद विरोध, राष्ट्र प्रेम और आजादी के संघर्ष को एक ही अर्थों में समझने का प्रचलन दिखलाई पड़ता है। रवींद्रनाथ टैगोर के यहाँ राष्ट्रीय स्वाधीनता से ज्यादा जरूरी सामाजिक स्वाधीनता है। भारतीय पुनर्जागरण चेतना में यही सामाजिक स्वाधीनता का एजेंडा प्रमुखता से हमारे सामने आता है। जैसा कि हमने पहले कहा है कि रवींद्रनाथ कोई राजनीतिक व्यक्ति नहीं थे लेकिन उनके लेखन में जिन मुद्दों कि उपस्थिति है वह तत्कालीन समय की चिंता और उसके अवबोध से उत्पन्न है, वे कहते हैं—'भारत में जो विपुल धन था वह किस तरह द्विपांत्रित हुआ है, यह यदि हम भूल जाएँ तो आधुनिक इतिहास का एक प्रमुख तत्त्व हम समझ नहीं सकेगें। आधुनिक राजनीति की प्रेरणा शक्ति विर्याभिमान नहीं, धन का लोभ है'...। 'हमारे पास अन्न नहीं, विद्या नहीं, पीने का पानी कीचड़ छानकर मिलता है, लेकिन चौकीदारों का आभाव नहीं है। मोटी तनख्वाह वाले अफसर भी हैं, उनका वेतन, 'गल्फ स्ट्रीम' की तरह सीधे ब्रिटेन के सहित-निवारण के लिए चला जाता है।'...'हमारे और अंग्रेजों के बीच कोई आत्मीयता का आकर्षण तो है ही नहीं। सारे भारत को जलियाँवाला बाग बना देना उनके लिए असम्भव नहीं था।' अपने समय में भारत को समझने की यह पेशकश रवींद्रनाथ में विविधतापूर्ण अतीत और उससे निकल कर आने वाले बौद्धिक उद्यमों से निसृत हुई थी। ब्रिटिश के विरोध का आन्दोलन रवींद्रनाथ के लिए महज आजादी का संघर्ष नहीं रह गया था बल्कि वह एक बड़े फलक पर राजनीतिक, सामाजिक न्याय और सांस्कृतिक गरिमा की रक्षा के संघर्ष के रूप में उपस्थित था। रवींद्रनाथ अपने समय के ज्वलंत मुद्दों पर स्पष्ट राय रखने वाले मनीषी थे। महात्मा गाँधी के विदेशी कपड़ों के बहिष्कार के मुद्दों पर उन्होंने कहा, 'महात्मा जी ने जब विदेशी कपड़ों को अपवित्र कहा था, मैंने उनकी बात का विरोध किया था; मैंने कहा था विदेशी कपड़ा आर्थिक दृष्टि से हानिप्रद हो सकता है, अपवित्र नहीं हो सकता .' चरखा और सूत कातने के मसले पर भी रवींद्रनाथ टैगोर के बुनियादी सवाल रहे हैं। रवींद्रनाथ ने 2 अक्टूबर 1937 को जब शांतिनिकेतन में गाँधी जयंती मनाई थी तब उस अवसर के लिए लिखे अपने लेख में कहा था कि 'महात्मा गाँधी ने यह दिखाया है कि हत्याकांड को आश्रय दिए बगैर भी स्वाधीनता पाई जा सकती है' तब वे दरअसल अपने छुटपन की उस चिंता का निराकरण कर रहे थे, जिसे हमने ऊपर कहा है कि, 'अस्त्रहीन होने पर शत्रु को किस प्रकार युद्ध में हराया जा सकता है।'

रवींद्रनाथ ठाकुर के उपन्यास 'गोरा', घर-बाहर, आँख की किरकरी, चार अध्याय आदि अपने पात्रों के माध्यम से अपने समय की विसंगतियों और उससे उबरने की परिस्थितियों की काट-छाँट और अपनी अस्मिता की पहचान का का एक अद्‌भुत उदहारण प्रस्तुत करती है। गोरा और घर-बाहर को हमें पुनर्जागरण की रौशनी में देखना चाहिए / अध्ययन करना चाहिए, जहाँ हमें उसकी ऊपरी सतह पर जहाँ अपनी पहचान को स्थापित और व्याख्यायित करने की प्रबल इच्छा है। यह कहना विषयान्तर नहीं होगा कि टैगोर का प्रसिद्ध नाटक 'विसर्जन' संभवतः पशु-बलि के विरोध पर भारतीय साहित्य का पहला नाटक है। लाल कनेर, मुकुट, डाकघर, राजा आदि नाटक और काबुलीबाला, पोस्ट मास्टर, अतिथि जैसे कहानी के रचयिता को हमें

आधुनिक भारत के द्वंद–कथा के वाचक के रूप में, भारतीय अस्मिता के चिंतक और 'मेंह बरसता टापर-टुपुर' के कवि के रूप में बार–बार पढ़ना चाहिए। जैसा कि मैंने ऊपर कहा है यहाँ गोरा उपन्यास के माध्यम से रवींद्रनाथ टैगोर की यात्रा को नवजागरण के आईने में देखने की कोशिश होगी। इस कोशिश की सीमाओं का आभास मुझे है और इसकी वजह बड़ी ही ठोस है और वह है रवींद्रनाथ का लिखा इतना विपुल और विविधता पूर्ण है कि सबको एक साथ समेट लेना मुश्किल है।

जार्ज लूकाच ने 'द थ्योरी ऑफ़ नॉवेल' (1920) में लिखा है–'उपन्यास का जन्म तब होता है जब मनुष्य और संसार के बीच समरसतापूर्ण संबंध भंग हो जाता है। ... यह ऐसी दुनिया का महाकाव्य है जिसे ईश्वर छोड़कर चला गया है।' रवींद्रनाथ टैगोर ने अपने प्रसिद्ध लेख 'विश्व-साहित्य' में लिखा है–'समस्त साहित्य को, समस्त मनुष्यों के चारों ओर एक बार इसी तरह देखना होगा। देखना होगा कि मनुष्य अपनी वास्तविक सत्ता को भाव की सत्ता में अपने चारों ओर भी बहुत दूर तक बढ़ाकर ले गया। उसकी वर्षा के चारों ओर कितने गीतों की वर्षा, काव्यों की वर्षा, कितने मेघदूत, कितने विद्यापति फैले हुए हैं, अपने छोटे घर के सुख-दुःख को उसने कितने चन्द्र–सूर्यवंशी राजाओं के सुख-दुःख की कहानी के बीच बड़ा कर लिया है।'

'गोरा' उपन्यास के बारे में रवींद्रनाथ टैगोर और जार्ज लुकाच के कथन से शुरू करने के पीछे उद्देश्य बहुत साफ़ है, भारतीय समाज औपनिवेषिक ढाँचों में कई स्तर पर बिखरा हुआ था, उसे समेटने और समरसतापूर्ण ढाँचों में बदलने के कई क्षेत्रीय प्रयास बहुत मुक्कमल नहीं थे। एक लेखक जिसकी सबसे बड़ी ताकत कलम होती है, अपने समाज की मूल चिंताओं को हमारे सामने लाने और विश्लेषित करने की कोशिश करता है। जब गोरा लिखा जा रहा था तब के भारत को गौर से देखा जाना चाहिए, भारतीय जनमानस अपने 'होने' को लेकर, अपने सरोकारों को लेकर काफी चिंतित दिखलाई देता है, उसमें अपने धर्म, अपने समुदाय, अपनी जातीय बोध को लेकर एक तड़प बराबर मौजूद है। तत्कालीन समय के विचारकों के कार्यों में जिसका संक्षिप्त विवरण मैंने ऊपर दिया है, में यह तड़प और बेचैनी मौजूद रही है। रवींद्रनाथ टैगोर के सामने ऐसे कई प्रसंग थे जिसे उन्होंने अपने उपन्यासों, कहानियों में सिरजा है। रवींद्रनाथ के यहाँ सुख–दुःख के बीच 'वास्तविक सत्ता और भाव सत्ता का चिंतन' और लुकाच के 'समरसतापूर्ण चिंताओं' में उनके अपने समाज के सरोकार शामिल रहे हैं। इन दोनों के संदर्भ से 'गोरा' उपन्यास में हम अस्मिता के प्रश्नों के माध्यम से नवजागरण की यात्रा को तलाश करें इससे पहले हमें 'अस्मिता' को समझ लेना चाहिए। अस्मिता के शब्द कोषीय अर्थ में गए बिना हम उसके व्यावहारिक, सैद्धांतिक पक्षों पर संक्षिप्त बात करेगें। यूँ तो 'अस्मिता' एक प्राचीन अवधारणा है लेकिन विगत दशकों में 'अस्मिता' का प्रश्न काफी चर्चित रहा है। यह प्रश्न एकरेखीय नहीं है बल्कि यह भिन्न-भिन्न कोणों से अभिव्यक्त हो रहा है। जातिपरक, लिंगपरक, रंगपरक, नस्लपरक, भाषापरक अस्मिता के बहसों में फँसा हुआ समाज या कि राष्ट्र अपने बनते बिगड़ते स्वरूप में मोटे तौर पर दो प्रकार की अस्मिता की बात करता है, वर्चस्वपरक अस्मिता और प्रतिरोधपरक अस्मिता। सवाल यह है कि क्या वर्चस्वपरक अस्मिता और प्रतिरोधपरक अस्मिता लगभग एक ही प्रकार की अवधारणा पर भिन्न अर्थों में बहस कर रही है? दोनों का आधार या तो नस्ल है या धर्म, लिंग, जाति, भाषा आदि। 'अस्मिता' के बनने-बिगड़ने की यही वास्तविकता आज दिखलाई देती है जिसे हम मोटे तौर पर पूँजीवाद से उपजे हुए सवाल, कहकर सरलीकृत तरीके से खारिज नहीं कर सकते / नहीं करना चाहिए भी। नस्लपरक

या अन्य अस्मिता की श्रेष्ठता साबित करते हुए हम उसे यदि वर्चस्वपरक अवस्था में स्थापित कर देना चाहते हैं तो यह भी ठीक है कि इसी के प्रतिरोध के आधार पर कोई दूसरा भी नस्लपरक या अन्य अस्मिता को स्थापित करने के लिए नई रणनीतियों के साथ सामने आने लगे। लेकिन इसमें यह एक महीन सावधानी बरतनी होगी कि किसी भी तरह की नस्लपरक या अन्य तरह की अस्मिताएँ हमें किसी दृश्य-अदृश्य किस्म के नए तानाशाहों के हवाले न कर दें। वस्तुतः साम्राज्यवाद या राष्ट्रवाद की अवधारणा एक किस्म से 'अस्मिता' की धारणा को ही पुष्ट करता है। इसमें यह विश्लेषित करने की आवश्यकता नहीं कि 'अस्मिता' की अवधारणा 'अन्य' की उपस्थिति के बिना संभव नहीं है। जब हम मूल्यों और विचारों की नहीं, केवल और केवल अस्मिता की बात करते हैं, तब अस्मिता के नाम पर नयी किस्म की बेपरवाह तानाशाही की तरफ जाने के रास्ते को आसान बना रहे होते हैं। इसमें हम किसी मनुष्य पर उसकी जन्मजात अस्मिता को सदा के लिए लाद देते की कोशिश में लग जाते हैं। यह एक तरह से सारे जनसमुदायों, संस्कृतियों को मनमाने ढाँचे में, मनमाने ढंग से तब्दील कर देने जैसा होता है। और यह भाईचारे, बंधुत्व, लोक कल्याण के विरुद्ध है।

'गोरा' 1907-10 के बीच रवींद्रनाथ ठाकुर का लिखा गया एक महत्त्वपूर्ण उपन्यास है। इस उपन्यास में मुख्य बहस हिन्दू समाज और ब्राह्म समाज के बीच है। हिन्दू समाज ब्राह्म समाज को पतित और गिरा हुआ 'ख्रिस्तान' मानता है और ब्राह्म समाज हिन्दू समाज को कट्टर और कर्मकांडी मानता है। इन दोनों के बीच कई पात्र आपस में बहस करते हैं, संवाद करते हैं और हर हाल में अपनी पहचान, खास पहचान बनाए रखना चाहते हैं।

टैगोर ने 'व्हाट इज नेशन' (राष्ट्र क्या है, 1901) में एक सैद्धांतिक विचार सूत्र दिया है—राष्ट्र = प्राचीन स्मृतियाँ (प्राचीन गौरव) आधुनिक पारस्परिक समझौता (वर्तमान इच्छा)। इस सूत्र से टैगोर अपने उपन्यास गोरा में बहुत दूर तक चलते दिखलाई देते हैं। आगे चलकर वे स्वेदशी आन्दोलन से पृथक हो जाते हैं। लगभग 1907 ई. के बाद से टैगोर के सामाजिक विचारों में एक नवीन परिवर्तन देखा जा सकता है, जो अंत तक बना रहा है। प्राच्यवाद से पाश्चात्यवाद की ओर टैगोर का आकर्षण वस्तुतः प्रबल प्राच्यवाद की संकीर्णता के कारण रही होगी, साथ ही पाश्चात्य के आधुनिक तकनीकी विकास और ज्ञान के मार्ग को आसान बना देने के कारण उसके प्रति आकर्षण पैदा लेने के कारण हुआ हो। मसला जो भी रहा हो टैगोर की विचार प्रणाली नवीन अंगड़ाई ले रही थी। इसी संक्रमण काल की उपज है—'गोरा'।

'गोरा' जो बन्धनों से उन्मुक्त श्वास के समान तत्कालीन जीवन की परंपरा विरोधी धाराओं को अभिव्यक्त कर रहा था। वस्तुतः 'गोरा' को पूर्णजागरण चेतना (भारतीय) का लघु-मित्र कहा जा सकता है। इसमें ऐसे कई प्रश्न गति कर रहें हैं जिसे हम आज भी अपने सामने देख रहे हैं। लगभग सौ बरस बाद भी 'गोरा' के कई पात्र हमारे आस-पास के वातावरण में जीवित हैं, परिसंवाद कर रहे हैं। निश्चित रूप से अस्मिता के व्यापक होते अर्थ में नस्ल, जेंडर आदि के बीच 'गोरा' का पाठ हमें नए तरीके से सोचने को मजबूर करता है। नया तरीका क्या हो सकता है? क्या 'गोरा' उपन्यास के कुछ पात्र जो गौण है, या कि जो परिसंवाद में सीधे-सीधे भाग नहीं लेते हैं मसलन, लछमिया, कृष्णदयाल, शशिमुखी आदि अपने महत्त्वपूर्ण पात्रों के परिसंवाद को बल प्रदान करते हैं या कि उनके विचारों के 'कन्ट्रास्ट' को व्यक्त करने के लिए है। क्या लोक व्यवहार में हिन्दुत्व की जो अवधारणा काम कर रही है, इसके परिसंवाद या बहस में वही हिन्दुत्व है। क्या, अस्मिता का प्रश्न मात्र तर्क का प्रश्न है या कि व्यावहारिक जीवन में जुड़ने और जुड़ जाने का प्रश्न है? इसके अलावे भी कई नये तरीके हो सकते हैं

जिसमें 'गोरा' को निरे उपन्यास की तरह न पढ़कर इतिहास के आख्यान के रूप में पढ़ा जा सकता है जबकि यह एक उपन्यास ही है जो पुनर्जागरण चेतना के दौर में लिखी गई।

'गोरा' की सम्पूर्ण संरचना गोरा, विनय, सुचरिता, ललिता, हारान बाबू, परेश बाबू, महिम, कृष्णदयाल, आनन्दमयी, हरीमोहिनी आदि विभिन्न पात्रों के बीच विन्यस्त है। इनके बीच स्थान और सन्दर्भ बदलते रहते हैं, पात्रों की संख्या भी घटती-बढ़ती रहती है, परन्तु प्रश्न मौजूद है, चिंताएँ व्याप्त है—अस्मिता का, आस्तित्विक चेतना का अथवा पुनर्जागरण का। यूँ तो इस उपन्यास का ज्यादातर ढाँचा संवादों के बीच फैला हुआ है, जो एक तार्किक परिणति की ओर तेजी से भाग रहा है, लेकिन इन संवादो के भीतर एक प्रेम कहानी भी पल रही है, एक आक्रामक प्रेम कहानी। इस प्रेम कहानी की भी अपनी एक अस्मिता है इसकी अस्मिता किसी अन्य अस्मिता से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। यह प्रेम कहानी भी अपने रचाव में अपना एक 'स्थान' तलाश रही है, एक अपना 'समय' चाह रही है जिसमें वह परिभाषित हो हालाँकि परिभाषित होना महत्त्वपूर्ण नहीं है, महत्त्वपूर्ण है, एक रागात्मक पर्यावरण की मौजूदगी पैदा करना। यह रागात्मक पर्यावरण निरे भावुकता के किस्म का नहीं जैसा कि 'सुधा और चन्दर' (गुनाहों का देवता - धर्मवीर भारती) के बीच का प्यार या कि निरे शुष्क बौद्धिकता के पर्यावरण से उपजा प्यार 'रेखा और भुवन' (नदी के दीप—अज्ञेय) के बीच। 'गोरा' में प्रेम का एक भिन्न दृष्टिकोण है। यह प्रेम कहानी धीरे-धीरे और चुपके-चुपके आगे बढ़ती हुई आकर ग्रहण करती है। यह प्रेम रागात्मक व बौद्धिक दोनों पर्यावरण में अपनी तार्किक उपस्थिति दर्ज कराने के लिए लंबे संवादों में स्वयं को गुँथती है। इस प्रेम कहानी का दो त्रिकोण है। एक त्रिकोण में गोरा व सुचरिता है जिसमें एक कोण पर फँसे हुए हैं हारान बाबू और दूसरा त्रिकोण है विनय व ललिता का जिसके एक कोण पर उलझा हुआ है हिन्दू समाज और द्वन्द्व समाज का द्वन्द्व। इन दोनों कोणों में प्रेम की परिणति क्या हो सकती है, उपन्यास का अन्त हमें बड़े ही रोचक और नाटकीय ढंग से बताता है, इसका उल्लेख हम बाद में करेगें। पहले हम 'गोरा' उपन्यास में उठ रहे कुछ और प्रश्नों/दृष्टिकोणों को देख लें।

क्या रवींद्रनाथ टैगोर अपने विचारों को बताने के लिए यह उपन्यास लिख रहे हैं या परम्परागत संस्थाओं की रक्षा करने वाले उद्देश्य से? क्या यह उपन्यास लेखक के निजी आन्तरिक द्वन्द्व का प्रमाण है? क्या यह किसी वैयक्तिक पहलू या पारिवारिक या सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक पहलू का बयान मात्र है? क्या इस उपन्यास के विचार व्यापक जनसमुदाय, विभिन्न वर्ग, वर्ण, जातियाँ, उपजातियाँ, धर्म, उपधर्म आदि को प्रभावित करता है? उत्तर, 'हाँ' या 'ना' के रूप में या सिक्के के 'हेड्स या टेल्स' के रूप में नहीं दिया जा सकता। वह भी तब जब हम एक खास किस्म से 'ऐथनिक कान्फ्लिक्ट' के बीच युद्धों और पर्यावरण के संकट से झूझती दुनिया के साए में सबकुछ को हजम/हड़प कर लेनेवाली आर्थिक दुनिया में रोज बन रहे/ मिट रहे समीकरणों के बीच 'गोरा' उपन्यास को पढ़ रहे हों।

बहरहाल, इन प्रश्नों की पृष्ठभूमि में हम लौटते हैं, 'गोरा' उपन्यास के 'पाठ' की ओर जहाँ गोरा एक द्वन्द्व का शिकार है, उसके व्यक्तित्व का विभाजन है। यह द्वन्द्व तत्कालीन समय का भी है। जाहिर है, रवींद्रनाथ टैगोर ने इस द्विभाजन को किसी खास प्रयोजन के साथ ही रखा होगा। गोरा के व्यक्तित्व का द्विभाजन यह है कि वह एक आयरिश दम्पति का पुत्र है, जिसकी खबर गोरा को नहीं है (लेकिन पाठक को है) और वह अपने आप को एक हिन्दू परिवार में पला-बढ़ा विशुद्ध हिन्दू मानता है। यह सच भी है कि इसका लालन-पालन हिन्दू परिवार में हुआ है और वह हिन्दू धर्म की शुद्धता को बनाए रखने की हर सम्भव कोशिश

करता है, उसके समर्थन में तीखी बहसें करता है। यह कोशिश एक आक्रामक कोशिश है। यह ठोस है और कहीं न कहीं थोड़ी संशयग्रस्त भी। पाठक को यह पता है कि यह ऐसे पात्र की कोशिश है जो स्वयं हिन्दू नहीं है। पाठक अपने भीतर बार-बार संघर्ष करता हुआ गोरा के अतीत को स्थगित करता हुआ उसके वर्तमान के साथ-साथ चलने की कोशिश करता है और उसके तर्कों के समर्थन में हाथ तो उठाना चाहता है लेकिन अगले ही पहले गोरा का आतीत पाठक के सामने आ जाता है। यह विडम्बना ही है कि जो कुछ गोरा नहीं है, उसकी रक्षा और उसपर विश्वस्त तरीके से लगातार बहस कर रहा है। हम चाहें तो इस विडम्बना को वर्तमान राजनीतिक, सामाजिक पर्यावरण के साथ जोड़ कर भी देख सकते हैं, जहाँ मूल्य, नैतिकता,परम्परा आदि पदावली पर बात करनेवाले स्वयं उन सबके बुनियादी 'एसेंस' से कोसों दूर होते हैं।

'गोरा' उपन्यास में पात्रों के सुदीर्घ संवाद में हमें भारतीय नवजागरण का आईना दिखलाई देता है। हम कुछ उदाहरणों से अपनी बात को पुष्ट करना चाहेंगे–

''बिलकुल ठीक! मैं उसे बाँधकर ही रखूँगा। जब तक तुम उस ख्रिस्तान नौकरानी लछमिया को छुट्टी नहीं दे देती तबतक तुम्हारे कमरे में खाना नहीं हो सकेगा।'' (पृष्ठ-20)

''आप जिसे कुप्रथा कहते हैं केवल अंग्रेजी किताबें रटकर कहते हैं, स्वयं उसके बारे में कुछ नहीं जानते।'' (पृष्ठ-54)

''गोरा ने कहा, 'मैं हिन्दू हूँ। हिन्दू तो कोई दल नहीं हुआ, हिन्दू तो एक जाति है। यह जाति इतनी बड़ी है कि इसका जातित्व किसमें है यह किसी परिभाषा में बाँधा ही नहीं जा सकता, समुद्र जैसे उसकी लहरे नहीं' है वैसे ही हिन्दू कोई दल नही है।'' (पृष्ठ-340)

'गोरा' उपन्यास का पात्र गोरा के ऐसे कई संवाद इस उपन्यास में हैं जिसमें वह अपनी अस्मिता को हिन्दू अस्मिता के भीतर पहचान रहा है। यह पहचान उसकी नितांत वैयक्तिक होने के साथ-साथ कहीं ज्यादा मजबूती के साथ सामुदायिक है। और वह है हिन्दू समुदाय। उपन्यास का एक महत्त्वपूर्ण 'टर्न' तब दिखलाई देता है जब गोरा को यह खबर लगती है कि वह हिन्दू नहीं है और इस कारण उसे अपने पिता का श्राद्ध करने का अधिकार नहीं है। तब लगता है कि 'गोरा' उपन्यास का पात्र गोरा और स्वयं उपन्यास भी एक साथ दोनों अपनी मुक्ति की राह तलाश कर रहे हैं। (या पा चुके हैं?) गोरा के कुछ आखरी संवाद–

''गोरा ने गरजकर कहा'', रहने दीजिए उनका नाम! मैं नहीं जानना चाहता।'' (पृ. 449)

''गोरा ने कहा, ''नहीं, मैं हिन्दू नहीं हूँ। ... आज भारतवर्ष के उत्तर से दक्षिण तक सब देव मन्दिरों के द्वार मेरे लिए बन्द हो गए हैं–सारे देश में आज किसी समाज में किसी पंगत में मेरे बैठने के लिए जगह नहीं है।'' (पृष्ठ-452)

गोरा जिस अस्मिता के साथ पूरे उपन्यास की संरचना और उसके संवादों में छाया रहा, उसका द्वन्द्व और विडम्बना के साथ यह अंत एक हथौड़े की तरह लगता है कि–'मैं हिन्दू नही' हूँ। उपन्यास का यह अंत दरअसल हिन्दू की तथाकथित कर्मकांडीय स्वरूप पर एक मजबूत चोट है। यह चोट का साहस टैगोर में बीसवीं सदी के टैगोर में दिखलाई देता है जो उन्नीसवीं सदी के टैगोर से भिन्न है। और यही नवजागरण की चेतना का एक स्वरूप है। इस पूरे संदर्भ को यदि हम चाहें तो टैगोर, गोरा और तत्कालीन परिवेश के त्रिकोण से माध्यम से और भी कई तरह के निष्कर्षों की तरफ बढ़ सकते हैं। लेकिन सवाल निष्कर्ष की तरफ बढ़ने का नहीं है बल्कि सवाल 'अस्मिता' का है जिसमें गोरा के साथ और भी कुछ पात्र हैं जो एक ही समाज में रहते हुए अपनी भूमिका बिना इतिहास में दर्ज हुए निभाते चले जाते हैं। हम संक्षेप में ऐसे

कुछ पात्रों की तरफ भी जाना चाहते हैं।

विनय, गोरा का मित्र है। विनय भी हिन्दू है, परन्तु कट्टर और आक्रामक नहीं है। गोरा से उसका मतभेद रहा करता है जबकि दोनो एक ही परिवेश की उपज हैं। उपन्यास में विनय की अस्मिता अलग ढंग से परिभाषित होती है यह अलग ढंग गोरा की उपस्थिति में जितना दिखता है उतना ही अनुपस्थिति में भी दिखलाई देता है। विनय का एक संवाद है–

''विनय ने हँसकर कहा'', आपसे सच ही कहता हूँ, मेरे विश्वास में गोरा जैसा जोर नहीं है। जब जाति-भेद के बन्धन और समाज के विकारों को देखता हूँ तब कई बार सन्देह भी प्रकट करता हूँ, किन्तु गोरा का कहना है कि बड़ी चीज को छोटा करके देखने से ही सन्देह उत्पन्न होता है।''

''जिसे आप जाति-भेद का फल कहती हैं, व अवस्था का फल है, केवल जाति-भेद का नहीं।'' (पृष्ठ-110)

''देखिए, सूर्य के उदय की वैज्ञानिक लोग एक ढंग से व्याख्या करते हैं और साधारण लोग एक दूसरे ढंग से। इससे सूर्य के उदय का विशेष कुछ घटता-बढ़ता नहीं है।'' (पृष्ठ-112)

हम कह सकतें हैं कि विनय का यह संवाद उसे एक अलग तरह की पहचान देता है। वह अपनी उपस्थिति के प्रति सजग है, अपनी अस्मिता, अपनी भूमिका के प्रति चेतस है। विनय के चरित्र को पढ़ते हुए लगता है कि टैगोर गोरा के समक्ष विनय को एक काउन्टर चरित्र के रूप में खड़ा कर रहे हों, या यह भी कि गोरा का बदला हुआ संस्करण विनय को निर्मित कर रहें हों। ट्रान्सफॉर्म स्वरूप में जो कभी-कभी मिलता हो और कभी-कभी पृथक् हो जाता हो। यहीं पर हम चाहें तो यू. आर. अनंतमूर्ति के प्रसिद्ध उपन्यास 'संस्कार' के दो प्रमुख पात्र प्राणेशाचार्य और नारणप्पा को याद कर सकते हैं। विनय का शशिमुखी से शादी करने से इंकार और ललिता से बढ़ता हुआ रागात्मक संबंध एक खास प्रयोजन के कारण है। विनय हिन्दू समाज से है और शशिमुखी भी। ललिता जो सुचरिता की बहन है, ब्रह्म समाज से है वस्तुतः टैगोर हिन्दू समाज और ब्रह्म समाज के बीच चली हुई बहसों के द्वारा दो पात्रों को खड़ा करते हैं, जो मिलना तो चाहता है लेकिन मिल नहीं पाता है। विनय ब्रह्म समाज में शामिल होना चाह रहा है ताकि ललिता से वह शादी कर सके और तमाम विवादों को खत्म कर सके। वह अपनी अस्मिता को ललिता की अस्मिता से मिलाकर एक नई अस्मिता की तलाश में है जिसमें सहयोग है, संघर्ष नहीं, ललिता विनय को ब्रह्म समाज में आने से रोकना चाहती है और उसे हिन्दू धर्म में रहते स्वीकार करना चाहती है। भारतीय स्त्री की यह क्रान्तिधर्मिता वस्तुतः पूर्णजागरण चेतना के प्रभाव में आए बदलाव के कारण दिखलाई देता है। दरअसल विज्ञान और तकनीक के साथ ज्ञान के रास्ते ने पुनर्जागरण के समय के सामने कई विकल्प खोल रखे थे। ललिता का एक संवाद है–

''पहले मुझे लगता था कि कि ब्रह्म समाज ही एकमात्र दुनिया है और उसके बाहर जो कुछ है, सब छाया है, बाह्म समाज से अलग होना मानो समूचे सत्य से अलग होना है। लेकिन इधर कुछ दिनों से मेरा यह विचार बिलकुल बदल गया है।'' (पृष्ठ-353)

हम देख सकते हैं, कि आत्मचेतस मध्यवर्ग 'वरण' को लेकर कितना चिन्तन करता है। वह अस्मिता निर्माण में कितना संदेहवादी हो रहा होता है। इक्कीसवीं सदी में यह संदेह बढ़ा है। ललिता का संवाद यही समाप्त नहीं होता बल्कि बहुत आगे तक ले जाता है, जहाँ वह आज के स्त्री-विमर्श की महीन सतह को भी सपर्श करती है।

उपन्यास के भीतर सुचरिता और हारान बाबू की टकराहट एक दिलचस्प वातावरण

का निर्माण करती है। दोनों ब्रह्मसमाजी हैं। दोनों में यदि विवाह हो जाता तो यह एक सामान्य घटना होती। उपन्यासकार ऐसा नहीं चाहता सुचरिता को इससे मतलब नहीं कि वह ब्रह्म समाजी है और हिन्दू समाज (गोरा) से जुड़ रही है। वह कहती है—''मैं समाज भी नहीं जानती। मैं इतना जानती हूँ कि मैं हिन्दू हूँ।'' (पृष्ठ-383) हारान बाबू ठीक इससे उलट सुचरिता को लगातार बता रहें हैं कि ब्रह्म समाज और हिन्दू समाज में प्रर्याप्त अन्तर है। इस बहस का नतीजा चाहे कुछ भी हो, रेखांकति करनेवाली बात यह है, टैगोर यह अच्छे से जानते थे कि धर्म की भाषा को जाने, पहचाने बिना वृहत्तर मानवीय समुदाय (खासकर निचला तबका) का भला नहीं हो सकता। उपन्यास की यह बहस वस्तुतः हमें यह इशारा कर रही होती है कि आत्मचेत्स बौद्धिक वर्ग का जीवन किन संघर्षों और अस्मिताओं में बन रहा है/ बिगड़ रहा है। हारान की खिन्नता, सुचरिता की कोमलता, गोरा का आक्रामक स्वरूप एक ऐसे त्रिकोण की निर्मिति करता है जिसमें हारान की स्थिति ज्यादा हास्यास्पद है। दूसरी ओर शशिमुखी, ललिता और विनय का भी एक त्रिकोण बनाता है, जिसमें शशिमुखी बहस से बाहर हो जाती है। पहले त्रिकोण में दो पुरुष पात्र के बीच एक स्त्री और दूसरे त्रिकोण में दो स्त्री के बीच एक पुरुष पात्र खास ढंग से संवाद कायम करते हुए एक-एक पात्र को त्रिकोण से निकाल बाहर करता है। तो क्या हम इस इशारे को इस आधार पर समझ सकते हैं कि, अपने-अपने पर्यावरण के अनुसार बनाई जा रही अस्मिता के भीतर जो 'मिस्फीट' होगा वह बाहर होगा? क्या हम यहाँ डार्विन को फिर से याद करना चाहते हैं? 'सर्वाइवल ऑफ दि फिटेस्ट'।

इन सभी पात्रों के बीच आनन्दमयी एक ऐसा पात्र है, जिसके साथ संभवतः टैगोर ज्यादा 'कम्फर्ट' महसूस करते होगें क्योंकि इस स्त्री पात्र में हमें प्राच्य और पाश्चात्य का एक संतुलन दिखलाई पड़ता है। हिन्दू परिवार में रहते हुए भी वह अपने हिन्दू परिवार के सदस्यों यहाँ तक स्वयं अपने पति से भी अलग कर दी जाती है। उसे अपने परिवार में ख्रिस्तान कहा जाता है क्योंकि वह लछमिया का छुआ पानी पीती है। आनन्दमयी का शुचिता पर जोर तो है लेकिन वह बाह्य नहीं है बल्कि व्यक्ति के आन्तरिक स्वरूप पर जोर है।

अंततः यह कहा जाना चाहिए कि उपन्यास की कथा और कथा के विभिन्न मोड़ों के माध्यम से भी यह साबित नही होता कि 'अस्मिता' की कोई अंतिम खोज होती है। इसलिए इस उपन्यास के कई पात्र आत्मबोध के साथ-साथ मुक्ति की अवधारणा की ओर जाते हैं। अपने समाहार की ओर पहुँचते हैं—

''मुझ पर कोई बन्धन नहीं'' (पृष्ठ-452)

''मैं दिन-रात जो होना चाह रहा था, पर हो नहीं पा रहा था, आज मैं वही हो गया हूँ। आज मैं सारे भारतवर्ष का हूँ। मेरे भीतर हिन्दू, मुसलमान, ख्रिस्तान किसी समाज के प्रति कोई विरोध नहीं है। आज इस भारतवर्ष में सबकी जात मेरी जात है, सबका अन्न, मेंरा अन्न है।'' (पृष्ठ-453)

''लक्षमिया को बुलाओ - उसे कहो, मुझे पानी पिला दे।'' (पृष्ठ-455)

दरअसल, लक्षमिया के हाथ से पानी पीने की माँग नवजागरण चेतना से उत्पन्न बोध है जो उपन्यास में पात्रों में घटित होता है। रवींद्रनाथ की तमाम रचनाओं में मनुष्य खुद को एक समरसतापूर्ण समाज में तलाश करता है या खुद की तलाश की ललक लिए जीता है। रवींद्रनाथ टैगोर के गद्य में यह तलाश ज्यादा खुलकर आया है। गोरा, घर—बाहर, आँख की किरकिरी को नवजागरण की पृष्ठभूमि में रवींद्रनाथ की रचनाओं को पढ़ना एक भिन्न किस्म के निष्कर्षों की तरफ ले जाता है। यहाँ यह भी उल्लेख करना उचित होगा कि नवजागरण

की चिंताओं में रवींद्रनाथ टैगोर के सामने व्यापक सामाजिक परिप्रेक्ष्य था जिसमें सबसे महत्त्वपूर्ण 'शांतिनिकेतन' की स्थापना था। यह उनके उपन्यास और कहानी से बाहर का समाज और समय था। इस स्थापना में रवींद्रनाथ टैगोर ने अपनी प्रसिद्ध काव्य पुस्तक 'गीतांजलि' को मिले नोबेल पुरस्कार की राशि को लगाया था। दरअसल कोई भी प्रतिबद्ध लेखक अपनी उपलब्धियों, अपनी प्रसिद्धियों को जो उसे उसके समय और समाज से प्राप्त होता है लौटा देना चाहता है। 'शांतिनिकेतन' के रूप में रवींद्रनाथ टैगोर ने उन उपलब्धियों और प्रसिद्धियों को अपने समय में ही भावी पीढ़ी के लिए छोड़ा था। दरअसल रवींद्रनाथ टैगोर मनुष्य को एक वृहतर परिप्रेक्ष्य में देखते हैं। उन्होंने अपने प्रसिद्ध लेख 'मानव–सत्य' में तीन तरह की जन्मभूमि का उल्लेख किया है, पहली जन्मभूमि है–पृथ्वी, दूसरी है–स्मृति जगत और तीसरी है–आत्मलोक। शांतिनिकेतन के रूप में रवींद्रनाथ टैगोर की यह तीनों जन्मभूमियाँ हैं। 31 दिसम्बर 1932 को रवींद्रनाथ टैगोर ने 'प्रश्न' नाम से एक कविता लिखी, इस लेख का अंत इसी कविता की पंक्ति से करने की इजाजत चाहूँगा–

'भगवान तुमने युग-युग में बार-बार इस दयाहीन संसार में
अपने दूत भेजे हैं।
वे कह गए हैं–'क्षमा करो,
कह गए हैं–प्रेम करो, अंतर से विद्वेष का विष
नष्ट कर दो।
वरणीय हैं वे, स्मरणीय हैं वे,
तो भी आज दुर्दिन के समय उन्हें निरर्थक
नमस्कार के साथ बाहर के द्वार से ही
लौटा रहा हूँ।...'

गोरा
(भारतीयता की खोज : एक अंतर्यात्रा)

विनोद तिवारी

कट्टरता सच को उन हाथों में सुरक्षित रखने की कोशिश
करती है जो उसे मारना चाहते हैं। —रवींद्रनाथ टैगोर

जब तक मैं ज़िंदा हूँ मानवता के ऊपर देशभक्ति
की जीत नहीं होने दूँगा। —रवींद्रनाथ टैगोर

एक राष्ट्र केवल भूखंड (मृण्मय) नहीं होता बल्कि
एक विचारात्मक (चिन्मय) अभिप्राय भी होता है। —रवींद्रनाथ टैगोर

भारतीय पुनर्जागरण अथवा राष्ट्रीय जागरण की शुरुआत बंगाल से होती है। वह भारतीय पुनर्जागरण अथवा राष्ट्रीय जागरण का प्रमुख केंद्र रहा है। राजा राममोहन राय, हेनरी विवियन डेरेजियो, स्वामी विवेकानंद, केशवचन्द्र सेन, ईश्वरचंद विद्यासागर, महर्षि अरविंद, काज़ी नज़रूल इस्लाम, रवींद्रनाथ टैगोर जैसे और भी न जाने कितने नाम लिए जा सकते हैं जिन्होंने अपने सक्रिय चिंतन, लेखन, आंदोलन से न केवल बंगाल को वरन् पूरे हिंदुस्तान को प्रभावित किया। ब्रिटेन की साम्राज्यवादी-उपनिवेशवादी सत्ता-संरचना के बरक्स, भारतीय 'स्व' को नए ढंग और नयी दृष्टि से सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक स्तर पर खोजने, पाने और रचने का संघर्ष उक्त पुनर्जागरण अथवा राष्ट्रीय जागरण का मूल लक्ष्य था। राजा राममोहन राय (1772-1833) वह पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने भारत को आधुनिक विचारों के साथ बाहरी दुनिया के समक्ष प्रस्तुत करने की पहल की। हिंदू धर्म में व्याप्त मूर्तिपूजा, कर्मकांड की उन्होंने खुलकर आलोचना की। हिंदू, इस्लाम और ईसाई धर्मों में पारस्परिक विचार-विनिमय और मेलजोल का उन्होंने प्रयत्न किया। सतीप्रथा जैसी धार्मिक-सामाजिक कुरीति का विरोध किया और इस प्रथा को रोकने

के लिए कानून बनाए जाने का संघर्ष किया। प्रेस की आज़ादी के पक्ष में आंदोलन किया। रवींद्रनाथ टैगोर ने उचित ही उन्हें 'मानवजाति की सार्वभौमता का आदर्श रखकर भारत को बाकी दुनिया से जोड़ने वाला व्यक्ति' कहा है। इसी प्रस्थान बिन्दु से रवींद्रनाथ टैगोर की खुद की धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक दृष्टि को देखना-परखना चाहिए। सुशोभन सरकार[1] उचित ही बाँग्ला नवजागरण की कालावधि राजा राममोहन राय से रवींद्रनाथ टैगोर तक निर्धारित करते हैं। अपने एक निबंध 'रवींद्रनाथ टैगोर और बंगाल का नवजागरण'[2] में वे विस्तार से बांग्ला नवजागरण के परिप्रेक्ष्य में रवींद्रनाथ टैगोर के अवदान पर चर्चा करते हैं। सुशोभन सरकार उस निबंध की शुरुआत, 1893 ईस्वी में रवींद्रनाथ टैगोर द्वारा लिखे गए एक निबंध (Crossing the Seas) के एक छोटे से उद्धरण से करते हैं—"सामाजिक नियमों, आचार-विचार, रीति-रिवाजों और संस्कारों पर आवश्यकता से अधिक ज़ोर देने का मतलब स्वतंत्रता और मानवता के उच्च मूल्यों का नकार है।[3] पहले भी और आज की तारीख और माहौल में और अधिक; गोरा को पढ़ते हुए रवींद्रनाथ का उक्त कथन प्रासंगिक हो जाता है। एक लेखक, कलाकार, संस्कृतिकर्मी, सामाजिक कार्यकर्ता जीवन भर जिन मूल्यों के लिए आंतरिक और बाह्य संघर्ष करता है, वे मूल्य क्या स्वतंत्रता और मानवता के मूल्यों से अलग होते हैं? रवींद्रनाथ टैगोर का लेखन विपुल है। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबंध, जैसी विधाओं में उन्होंने ख़ूब लिखा है साथ ही संगीत, चित्रकला, दर्शन जैसे अनुशासनों में भी उनका महत्त्वपूर्ण योगदान है। बांग्ला में 'रवींद्र संगीत' की एक अलग शैली ही प्रचलित है। रवींद्रनाथ ने छोटे-बड़े कुल 12 उपन्यास लिखे। जिनमें से सबसे अधिक महत्त्व 'गोरा', 'चोखेर बाली' और 'घरे बाइरे' को मिला। इनमें से भी 'गोरा' पुनर्जागरण कालीन धार्मिक-राजनीतिक चेतना के परिप्रेक्ष्य में राष्ट्र और राष्ट्रीयता की बहसों और दृष्टियों के संदर्भ में भारतीय उपन्यासों में सर्वाधिक चर्चित और प्रशंसित है।

'गोरा' 'आधुनिकता', 'सभ्यता' 'राष्ट्रवाद', जैसी अनेक प्रदत्त औपनिवेशिक छवियों, इतिहासों और आख्यानों का प्रतिआख्यान निर्मित करने वाला एक ऐसा भारतीय उपन्यास है जिसमें राष्ट्रीयता की भावना के साथ-साथ हिंदू धर्म के मूल चरित्र और स्वभाव के आलोक में भारतीयता की खोज प्रमुख मुद्दा है। यह उपन्यास इंडियन प्रेस की बाँग्ला मासिक पत्रिका 'प्रवासी' के सन् 1907 के भाद्रप्रद अंक से धारावाहिक छपना शुरू हुआ और 18 अंकों तक लगातार छपता रहा। सन् 1909 के फाल्गुन अंक में जाकर पूरा हुआ। सन् 1910 में पहली बार यह पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुआ।[4] माना जाता है कि जब यह उपन्यास धारावाहिक 'प्रवासी' पत्रिका में छप रहा था तभी से बंगाल का जो 'भद्रलोक' था, उनके बीच पर्याप्त चर्चा और बहस का विषय बना रहा। खासकर, गोरा, विनय, परेश बाबू, सुचरिता जैसे चरित्रों के सहारे हिंदू धर्म, ब्रह्म समाज, इस्लाम और ईसाईयत को लेकर धर्म, जाति, खान-पान, रहन-सहन, देश, देशभक्ति, अभिव्यक्ति, अधिकार, न्याय, नीति आदि के परिप्रेक्ष्य में भारतीयता की मूल प्रकृति और लक्षणों का सार्वभौम मानवतावादी दर्शन के संदर्भ में सर्जनात्मक, बौद्धिक और आध्यात्मिक वर्णन और विवेचन को लेकर। अपनी पुस्तक 'दि रेनेसाँ इन इंडिया'[5] में महर्षि अरविंद ने भारतीय पुनर्जागरण में सक्रिय लेखकों, पत्रकारों, बौद्धिकों और चिंतकों के दृष्टिकोण और कार्यप्रणाली को ध्यान में रखते हुए उन्हें तीन वर्गों में विभाजित किया है। पहला वर्ग उन लोगों का था जो यूरोपीय संस्कृति को स्वीकारते हुए अपने अतीत के मूल्यों का पुनः परीक्षण कर रहे थे। इन लोगों ने जीर्ण-शीर्ण भारतीय मान्यताओं, विश्वासों और मूल्यों को ख़ारिज करने की पहल की और आधुनिक दुनिया के समांतर भारत को भी आगे ले जाने के प्रयत्न किए।

दूसरे वर्ग वह था जो पश्चिमी संस्कृति के विरोध में भारतीय संस्कृति की प्रतिक्रिया को महत्त्व दे रहा था। वह पश्चिमी संस्कृति को नकारने की ज़िद में हर उस चीज को नकारने का उद्धत प्रयास कर रहा था जिसका संबंध आधुनिकता की धारणा या विचार से होता है। इनके अलावा एक तीसरा वर्ग भी उभर रहा था जो प्रायः उस नवीन रचनात्मकता पर बल देता है जिसमें भारतीय आध्यात्मिक शक्ति प्रधानतः अपना स्वभावज रूप पा ले, अपने सत्यों को पुनः उपलब्ध करे और उनमें से जो ठीक और सारभूत हैं तथा नवीन विचारों और रूपों में अपने को ढाल लेने में सक्षम हैं, उन्हें ग्रहण कर ले। इन्हें, इस ढंग से नियोजित किया जाय कि नवीनतम विचारों का ऐसा रूपान्तरण और भारतीयकरण हो जाये कि उनका विदेशीपन नष्ट हो जाये और ये भारतीय शक्ति, भारतमाता की अपनी मौलिक विशेषताओं जैसे बन जाएँ। जहाँ राममोहन राय, सी. एफ. एण्ड्रयूज, देवेंद्र नाथ टैगोर, सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, बंकिमचन्द्र चटर्जी आदि पहले वर्ग में वाते हैं, वहीं दयानंद सरस्वती, डेरेजिओ, भाबानीचरण बन्द्योपाध्याय, राधाकान्त देव आदि दूसरे वर्ग में। जबकि विवेकानंद, अरविंद घोष, ईश्वरचंद विद्यासागर, रवींद्रनाथ टैगोर आदि तीसरे वर्ग में आते हैं।

रवींद्रनाथ टैगोर से पूर्व बांग्ला में भाबानीचरण बन्द्योपाध्याय (1787-1848), प्यारीचंद मित्र (1814-1883), लालबिहारी डे (1824-1892), कालीप्रसन्न सिन्हा (1840-1870) और बंकिमचंद्र चटर्जी (1838-1894) जैसे लेखकों का बांग्ला उपन्यास ही नहीं भारतीय उपन्यास के उद्भव और विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान है। भवानीचरण बंद्योपाध्याय का 'बाबूर उपाख्यान' (The Narration of the Babu -1821) पहली रचना है जिसमें आलोचकों ने 'कथा आख्यायन' के बीज देखे हैं।[6] परंतु, प्यारीचंद मित्र के 'आलालेर घरेर दुलाल' (1857) को पहला बांग्ला उपन्यास माना जाता है। इसके ठीक दो साल बाद लालबिहारी डे का उपन्यास 'चंद्रमुखीर उपाख्यान' (1859) प्रकाशित होता है। यह उपन्यास सन् 1857 से 'अरुणोदय' नमक पत्रिका में धारावाहिक छाप रहा था। इसके संपादक और प्रकाशक देबीपद भट्टाचार्य ने इसे ही पहला बांग्ला उपन्यास होने का दावा पेश किया है।[7] परंतु औपन्यासिक शिल्प और तत्व की दृष्टि से आलोचकों ने 'आलालेर घरेर दुलाल' को ही पहला उपन्यास माना है। इस पृष्ठभूमि में बंकिमचन्द्र चटर्जी का आगमन होता है। बंकिमचन्द्र चटर्जी इतिहास आख्यान से शुरू करते हैं और राजनीतिक यथार्थ तक पहुँचते हैं। वे अपने लेखन में नवता और प्रयोग को अधिक महत्त्व देते हैं। 'दुर्गेश नंदिनी' (1865), 'कपाल कुंडला' (1866), 'मृणालिनी' (1869), 'राजसिंह' (1882) 'आनंदमठ' (1882) और 'सीताराम' (1886) के संदर्भ में उनके औपन्यासिक विकास को देखा समझा जा सकता है। नामवर सिंह जहाँ बंकिमचंद्र के इतिहासपरक उपन्यासों को 'रोमांस' कह कर उन्हें 'कादंबरी' का आधुनिक विकास मानते हैं वहीं वे 'आनंदमठ' को पहला भारतीय राजनीतिक उपन्यास कहते हैं।[8] रवींद्रनाथ टैगोर ने जहाँ राजा राममोहन राय से धार्मिक-सामाजिक दृष्टि की नवता प्राप्त की थी वहीं बंकिमचंद्र चटर्जी से साहित्य की नवता प्राप्त की थी। पर, भले ही सन् 1886 के कांग्रेस के राष्ट्रीय अधिवेशन में रवींद्रनाथ टैगोर ने मंच से 'वंदे मातरम्' का गायन किया था पर उपन्यास लेखन में रवींद्रनाथ ने 'देशभक्ति' और 'राष्ट्रीयता' का जो 'उग्र धार्मिक राष्ट्रवादी' मॉडल था, जिसके कई-अनेक संदर्भ 'आनंदमठ' में मौजूद हैं, का अनुकरण नहीं किया। जब हम 'आनंदमठ' से 'गोरा' तक की यात्रा करते हैं तो बंकिमचंद्र चटर्जी और रवींद्रनाथ टैगोर की विचार-दृष्टि का अंतर स्पष्ट हो जाता है। यहाँ, यह भी समझना चाहिए कि एक 'पाठ' किसी खास देशकाल में, किसी खास लक्ष्यार्थ को लेकर रचा गया होता है, हो सकता है (और इतिहास गवाह है कि अक्सर ऐसा ही हुआ

है) कि वही 'पाठ' अपनी आंतरिक संरचना और परतों में धार्मिक और सामाजिक संकीर्णता के अनेकों जाने-अनजाने संदर्भ छिपाए रहता है जिसका उपयोग-दुरुपयोग कालांतर में किसी खास सांप्रदायिक और राजनीतिक लक्ष्य को पाने के लिए लोग, समूह, समुदाय, संस्थाएं, राज्य कर सकते हैं, करते हैं। क्या 'आनंदमठ' के साथ भी यह हुआ? और अगर हुआ तो उसके कारणों की तलाश भी की जानी चाहिए। और विद्वान आलोचकों ने इसकी खोज की भी है। सबका उल्लेख यहाँ करना संभव नहीं है, परंतु अमिय पी. सेन के एक लेख का उल्लेख ज़रूर करना चाहूँगा। अमिय पी. सेन ने अपने लेख 'क्रिटिकल ऑब्जर्वेशन्स ऑन बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय'ज आनंदमठ'[9] में तथ्यों और संदर्भों सहित बंकिमचंद्र चटर्जी की अँग्रेजी राज के प्रति प्रणय-कलह वाले रिश्ते और अवसरवाद के साथ-साथ 'आनंदमठ' के कुछ हिस्सों का हिंदू-मुस्लिम सांप्रदायिकता के एकदम प्रारंभिक उभार के संकेत के रूप में विश्लेषित किया है। हम सब जानते हैं कि, बंकिमचंद्र चटर्जी अँग्रेजी राज में बड़े ओहदे, डेप्युटी कलेक्टर के पद पर सरकारी मुलाजिम थे। अमिय सेन ने लिखा है कि जब आनंदमठ उपन्यास प्रकाशित होकर आया ही आया था कि उनका तबादला हुगली से हावड़ा कर दिया गया। यहाँ पर सी. ई. बकलैंड नामक जो अंग्रेज़ कलेक्टर था उसने उन्हें बहुत परेशान किया। यह वही समय है जब उनके पिता जादवचंद्र चटर्जी का देहांत हो गया था। बकलैंड ने उपन्यास को लेकर ढेर सारे स्पष्टीकरण बंकिम से मांगे। जो लोग जानते हैं कि पहले संस्करण में जो 'आनंदमठ' था वह इसके बाद बदल दिया गया। अंग्रेजों की जगह 'यवन' शब्द, कर वसूली वाला प्रसंग, अँग्रेजी सेना और 'सनातन दल' के बीच संघर्ष वाले प्रसंग बदल/हटा दिये गए। अमिय सेन ने एक बंगाली विद्वान एस. एम. मित्र की 1908 में प्रकाशित किताब 'इंडियन प्राब्लंस' के हवाले से एक कथन उद्धृत किया है, उसे हू-ब-हू यहाँ देना प्रासंगिक होगा—"A fellow Bengali, S. M. Mitra observed that Bankim composed the novel in a fit of patriotic excitement, after a good hearty dinner which he always enjoyed."

अमिय अपने उक्त लेख में जो दो अन्य संदर्भ और तथ्य देते हैं वह आज और अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। वह लिखते हैं कि, औपनिवेशिक इतिहास लेखन में बाद के दिनों में जिस तरह से भारत में मुसलमान शासन के संबध में अंधकार और अराजकता की संकल्पना विकसित की गयी उसके बीजतत्व 'आनंदमठ' में मिल जाएँगे। उपन्यास के पहले संस्करण की प्रस्तावना में ही इस बात का उल्लेख है कि अंग्रेजों ने वास्तव में बंगाल को अराजकता की स्थिति से बचा लिया। इसी तरह वह दूसरी बात उपन्यास के ही एक प्रसंग के हवाले से रखते हैं। 'आनंदमठ' के तीसरे भाग के सातवें अध्याय में हिंदू, मस्जिदों को गिराकर वहाँ मंदिर बनाए जाने का रास्ता साफ करने पर विचार करते हुए दिखते हैं। आगे के दिनों में जो विषाक्त सांप्रदायिक माहौल बना, यह उदाहरण उस दृष्टि से अत्यंत गंभीर है। यहीं पर हिंदुओं के लिए मुसलमान 'पर से' (उपन्यास में मुसलमानों के लिए प्रयुक्त) अर्थात अन्य भी हो जाते हैं। यह भी संभवतः उन प्रारम्भिक उदाहरणों में से एक होगा। वस्तुतः, जिसे हम भारतीय नवजागरण अथवा पुनर्जागरण कह कर संबोधित करते हैं, उसमें शुरू से ही पुनरुत्थानवादी विचार मौजूद रहे हैं। इसलिए इस नवजागरण (जिसे राष्ट्रीय जागरण कहना उचित प्रतीत होता है) की अगर कोई महत्त्वपूर्ण भूमिका हो सकती है तो वह यह कि तत्कालीन राष्ट्रीय आंदोलन में इस जागरण ने एक हद तक सामंत विरोधी और उपनिवेशवाद विरोधी माहौल तैयार किया। धरम और समाज-सुधार आंदोलनों का उद्देश्य हासिल नहीं हुआ। धर्म, संप्रदाय, जाति, क्षेत्र, भाषा आदि की संकीर्णताओं से उसकी लड़ाई असफल रही। इस संबंध में सबसे संतुलित विश्लेषण के. दामोदरन का है।

वह लिखते हैं—"ये आंदोलन, सैद्धान्तिक दृष्टि से तत्ववादी, मध्ययुगीन तथा अवैज्ञानिक अवधारणाओं पर आधारित थे। फिर भी उनकी अंतर्वस्तु मूलतः सामंत विरोधी और उपनिवेशवाद विरोधी थी। वे जनता को सड़े-गले सामाजिक संबंधों और विचारों का सृजन करने के लिए प्रोत्साहित करते थे। यही कारण है कि इन्होंने इतिहास में एक सीमा तक प्रगतिशील भूमिका अदा की।"[10]

'आनंदमठ' के इस आलोचनात्मक विश्लेषण के संदर्भ में मुझे यकायक, दिसंबर 1992 में अयोध्या में बाबरी मस्जिद ढहाए जाने के बाद कन्नड़ भाषा के दुनिया भर में प्रसिद्ध लेखक और विद्वान यू. आर. अनंतमूर्ति (जो उस समय साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली के अध्यक्ष थे) द्वारा अपनी आत्मकथा में लिखे उस प्रसंग की याद ताज़ा हो आयी। वे लिखते हैं—"1992 में विध्वंस के बाद पूरे देश में जो घटाटोप अंधेरा छा गया था, मैं तब साहित्य अकादेमी का अध्यक्ष था। हमने यह तय किया कि हम पूरे देश में 'गोरा' उपन्यास पर सेमिनार करेंगे और देश भर में जगह-जगह इसका पाठ करने को प्रोत्साहित करेंगे।...हिंदुत्व और उससे भी आगे भारतीयता के मूल तत्व की समझ बनाने में गोरा से बेहतर पाठ मेरी नज़र में दूसरा नहीं है।"[11]

इस प्रस्तावना के साथ जब हम 'गोरा' का पाठ करते हैं तो निश्चित तौर पर यह उपन्यास न केवल बांग्ला साहित्य में अपितु पूरे भारतीय साहित्य में भारतीयता का एक अत्यंत ही सजग आख्यान बन जाता है। रवींद्रनाथ टैगोर आधुनिक 'राष्ट्र राज्य' के किसी भी तरह के रूप-प्रारूप को अच्छा नहीं मानते थे। इसीलिए वे 'राष्ट्र' की आधुनिक तौर-तरीके और व्यवस्था की जगह-जगह अपने लेखन में भर्त्सना करते हैं। उनका साफ तौर पर यह मानना है की 'राष्ट्र-राज्य' अपनी संकल्पना और धारणा में ही आक्रामक और संकीर्ण होते हैं। उनके एग्रेसिव नेशनलिज़्म, नैरो नेशनलिज़्म की धारणा से हम सभी परिचित हैं। आज के संप्रदायवाद, हिंसा, राष्ट्रवाद, असहिष्णुता वाले माहौल में 'राष्ट्र' संबंधी गुरुदेव का चिंतन एक अनिवार्य 'पाठ' है जिसे पढ़ने और पढ़ाने की आज अधिक जरूरत है। "भारत की समस्या राजनैतिक नहीं सामाजिक है। यहाँ राष्ट्रवाद नहीं के बराबर है। हकीकत तो ये है कि यहाँ पर पश्चिमी देशों जैसा राष्ट्रवाद पनप ही नहीं सकता क्योंकि सामाजिक कार्यों में अपनी रूढ़िवादिता का हवाला देने वाले लोग जब राष्ट्रवाद की बात करें तो वह कैसे प्रसारित होगा? भारत को राष्ट्र की सँकरी मान्यता छोड़कर सार्वभौमिक दृष्टिकोण अपनाना चाहिए।"[12] रवींद्रनाथ ने इस उपन्यास के नायक 'गोरा' के ज़रिए न केवल बाह्य स्तर पर धर्म और समाज के अंदर मनुष्य के भीतर गहरे पैठ बना चुके सवालों के पक्ष-विपक्ष में तर्क और दलीलें देते हैं बल्कि अपने अन्तर्मन में भी पैठते हैं और गोरा को उसकी स्थिति और नियति के बीच रखकर एक ऐसे नायक के रूप में उभारते हैं जिसमें मानवीय सार अपनी सचाई के साथ सामने आ जाता है। मिखाइल बाख़्तिन को याद करें, अपने लेख 'एपिक एंड नावेल' में वह नायक के संबंध में लिखता है, "यदि उपन्यास का नायक अपनी स्थिति में अपनी नियति में पूरी तरह समा जाता है तो उसके बिंब (इमेज) में मानवीय सार की बहुलता मूर्त हो जाती है।"[13] उपन्यासकर ने गोरा के व्यक्तित्व को जिस ढंग से चित्रित किया है वह भारत के धर्म और समाज-सुधार आंदोलनों की मूल चिंता और बहस को केंद्र में रख कर। रवींद्रनाथ को पूरा विश्वास है कि भारतवर्ष अंग्रेज़ों की औपनिवेशिक गुलामी से आज़ाद होकर अपना 'स्व' जरूर ग्रहण करेगा। उनका नायक गोरा यह जानता है कि अंधकार गहरा है, फिर भी दीये की एकतान लौ में उसकी आस्था प्रबल है—"अँधेरा बड़ा होता है और दीये की लौ छोटी। पर इतने बड़े अँधेरे से इतनी छोटी सी लौ पर ही मैं अधिक आस्था रखता हूँ। यह बदहाली टिकाऊ हो सकती है यह बात मैं किसी

तरह भी नहीं मान सकता। सारे संसार की ज्ञान-भक्ति, प्राण-शक्ति उस पर अंदर और बाहर से बराबर चोट कर रही है। हम लोग नाचीज़ ही क्यों न हों, उसी ज्ञान और प्राण के दल में जा खड़े होंगे। वहाँ खड़े-खड़े मर भी जाएँ तो यह निश्चित मानकर मरेंगे कि हमारे दल की जीत होगी। देश की जहालत को ही ताकतवर मानकर उसी पर बिस्तर बिछाकर पड़े नहीं रहेंगे। मैं तो कहता हूँ संसार में शैतान के ऊपर श्रद्धा रखना और भूत से डरना एक बराबर है; दोनों का नतीजा यही होता है कि बीमारी के सही इलाज़ की ओर रुझान ही नहीं होता। जैसा झूठा डर, वैसा ही झूठा ओझा; दोनों मिलकर हमें मारते रहते हैं।"[14] कहीं-कहीं तो गोरा के व्यक्तित्व में अकल्पनीय मार्मिकता, पीड़ा, साहस, निर्भीकता और बेरहम जोश के दर्शन होते हैं। जैसे एक नींद में चलने वाला व्यक्ति उन अंजान रास्तों को भी पार कर जाता है जिन्हें न वह जानता है न उसपर चला है और जिन पर शायद जाग्रत स्थिति में चलने पर हिचके। गोरा का साहसिक व्यक्तित्व कुछ जगहों पर उपन्यास में ऐसे ही चित्रित किया गया है। ऐसे कुछ-एक प्रसंगों का का उल्लेख अनुचित नहीं होगा। गोरा द्वारा घोसपुर नामक गाँव में पुलिस द्वारा किए गए ज़ुल्म के विरोध में आवाज उठाने और संघर्ष वाला प्रसंग हो अथवा घोषपाड़ा और उसके आस-पास के गाँवों में घूमकर ब्रिटिश हुकूमत की कर उगाही के विरुद्ध आवाज़ उठाने वाला प्रसंग। मजिस्ट्रेट ब्राउनलो से गोरा का यह संवाद—"तुम घोसपुर गाँव में क्या करने आए थे? गोरा ने कहा, 'गुजरता हुआ वहाँ ठहरा था। पुलिस की ज्यादती से गाँव की बदहाली देखकर और नए फसाद के आसार महसूस कर उसे रोकने के ले आपके पास आया हूँ।' मजिस्ट्रेट ने कहा, 'घोसपुर गाँव के लोग बड़े बदमाश हैं, यह तुम्हें मालूम है?' 'वे बदमाश नहीं हैं', गोरा बोला, 'निडर और आज़ाद तबियत हैं। जुल्म चुपचाप नहीं सह सकते।' ...मजिस्ट्रेट ने कहा, 'मैं तुम्हें सावधान किए देता हूँ, घोसपुर के मामले में दख़ल दोगे तो सस्ते नहीं छूटोगे।' गोरा ने कहा, 'आपने जब तय ही कर लिया है कि ज़ुल्म को रोकने की कोई कार्रवाई नहीं करेंगे और गाँव के लोगों के बारे में आपने पहले से धारणा बना ली है तब मेरे पास इसके सिवा और कोई चारा नहीं है कि गाँव के लोगों को खुद पुलिस के मुक़ाबले में खड़े होने के लिए बढ़ावा दूँ।"[15] हम यह जानते हैं कि एक समय में बंगाल के नवयुवकों को ब्रिटेन की जगह आयरलैंड के क्रांतिकारी और विचारक अधिक प्रभावित कर रहे थे। आयरलैंड में होमरूल के प्रभावी नेता और आयरिश क्रांतिकारी चार्ल्स स्टुअर्ट पारनेल के विचारों से श्री अरबिन्द घोष की तरह रवींद्रनाथ टैगोर भी प्रभावित थे। गोरा का गाँव-गाँव घूमकर ब्रिटिश हुकूमत की कर उगाही के विरुद्ध जो संदेश है वह पारनेल से प्रभावित है। भारतीय उपन्यास में गोरा एक ऐसा नायक है जिसके लिए देशभक्ति और भारतीयता समानार्थी हैं। यही कारण है कि उसके पूर्व और उसके समकालीन के कई वास्तविक नायकों के व्यक्तित्व और चरित्र को उसके अंदर आलोचकों ने ढूँढने और देखने की कोशिश की है। प्रसिद्ध बांग्ला साहित्यकार देबेश रॉय जैसे लोगों का मानना है कि स्वामी विवेकानंद गोरा के चरित्र मॉडल हैं। वे लिखते हैं, "गोरा स्वामी विवेकानंद और ब्रह्मबांधव उपाध्याय की समकालीन छवि है।"[16] यह एक हद तक सही भी है। उपन्यास में कई स्थलों पर गोरा अपने देश और समाज, यहाँ के लोगों की दयनीय दशा आदि पर जिस पीड़ा के साथ वस्तुस्थिति को समझते हुए अपनी राय रखता है वह विवेकानंद की सोच से सीधे जुड़ता है। जैसे समाज में फ़ैली जहालत और गरीबी पर गोरा की यह सोच—"सारी जाति ने झूठ के हाथों अपनी अक्ल बेच दी है। देवता, भूत-प्रेत, उल्लू, छींक, बृहस्पतिवार, त्रयःस्पर्श (सावन का वह दिन जिसमें तीन तिथियाँ एक साथ पड़ती हैं)—किस-किस का डर है, कोई ठिकाना नहीं है। संसार में सत्य के साथ कैसी मर्दानगी के साथ संघर्ष करना पड़ता

है, यह ये लोग कैसे जानेंगे? और हम-तुम समझ लेते हैं कि हम लोगों ने दो-चार पन्ने विज्ञान पढ़ लिया है इसलिए हम इनके साथ नहीं हैं। लेकिन यह समझ रखो चारो ओर फैली हीनता के खिंचाव से थोड़े से लोग किताबी विद्या के सहारे अपने को कभी बचाकर नहीं रख सकते। जब तक ये लोग दुनिया के कामकाज में नियम की प्रभुता में विश्वास नहीं करेंगे तब तक हमारे पढे-लिखे लोग भी इसके असर से बरी नहीं हो सकते।...तुम लोग अपनी शिष्टता और शिक्षा के घमंड में आम लोगों से अलग होकर मज़े में आराम से रह सकते हो, यह मैंने बार-बार देखा है; इसीलिए तुम्हें सावधान कर देना चाहहता हूँ कि नीचे के लोगों का उद्धार किए बिना तुम्हारा सही-सही उद्धार कभी नहीं होगा। नाव के तले में छेद हो तो नाव का मस्तूल कभी अकड़कर नहीं चल सकता, चाहे वह कितना ही ऊँचा क्यों न हो।"[17]

गोरा उपन्यास का रचना-काल बंग-भंग (1905) और उसके बाद का है। गदर इसकी पृष्ठभूमि में बतौर-ए-ज़िक्र आया है। बाँग्ला नवजागरण के साथ-साथ भारतीय राष्ट्रीय जागरण और आंदोलनों के उत्थान का भी यही समय है। यह सच है की, गोरा उपन्यास बांग्ला नवजागरण की देन है पर यह बांग्ला नवजागरण के अंतर्विरोधों और सीमाओं का आलोचनात्मक पाठ भी है। बल्कि यह बांग्ला नवजागरण ही नहीं भारतीय नवजागरण की राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक सीमाओं और अंतर्विरोधों की समीक्षा करता है जिसकी अंतर्वस्तु में धर्मांधता, राष्ट्रवाद, मातृभूमि और जातीयता जैसी संकल्पनाएँ और अधिक जड़ता के साथ बाद के दिनों में विकसित हुईं, आज उस प्रेत के कोटि-कोटि क्लोन तैयार हो गए हैं। इसलिए 'गोरा' भारतीयता की मूल आत्मा और चेतना से निकला एक ऐसा आख्यान है जो एक साथ औपनिवेशिक 'पर' बनाम जातीय 'स्व', धार्मिक कट्टरता बनाम सार्वभौम मानवता, राष्ट्रवाद बनाम भारतीयता, मातृभूमि बनाम देशप्रेम की बहस को अत्यंत ही सारगर्भित रूप से रचता है और अंततः धर्म, राष्ट्र, जाति, भूगोल आधारित राष्ट्रवादी अस्मिता की संकीर्णताओं और कट्टरताओं के सामने भारतीयता को महत्तम सिद्ध कर देता है। अतः यह उपन्यास न केवल गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर की विश्व-दृष्टि को समझने-जानने का एक रचनात्मक 'पाठ' है बल्कि हिंदू धर्म की मूल चेतना और भारतीयता की धारणा को भी समझने के लिए एक ज़रूरी 'पाठ' है। नोबल पुरस्कार से सम्मानित बीसवीं सदी के प्रमुख फ्रांसीसी साहित्यकार रोम्याँ रोला रवींद्रनाथ टैगोर से एक बातचीत में भारत की धार्मिक सहिष्णुता को बड़े ही आदर किन्तु आश्चर्य के साथ देखते हैं और कहते हैं कि "मैंने पश्चिम में इस तरह की धार्मिक सहिष्णुता कहीं नहीं देखी है। शायद हिंदू धर्म की लौकिक प्रकृति (cosmic nature) और भारतीय सभ्यता और संस्कृति की समग्रता वाले चरित्र (composite character) के कारण यह संभव हो सका है। भारत ने सभी प्रकार के धार्मिक विश्वासों और प्रथाओं में आस्था रखने और जीने वाले लोगों को साथ-साथ रहने की छूट दी है।'' रवींद्रनाथ टैगोर कहते हैं, "यही हमारी सच्ची आध्यात्मिक विरासत है।"[18] शुद्धता, पवित्रता, खान-पान, छूआछूत, जाति-पाँति के भेद आदि के आधार पर हिंदू धर्म को लेकर 'गोरा' उपन्यास के शुरुआती पन्नों पर रवींद्रनाथ अपनी उक्त भावना को प्रस्तुत कर देते हैं। गोरा और उसकी माँ आनंदमयी के बीच की बातचीत का यह अंश इस दृष्टि से अत्यन्त सन्दर्भवान है—"तुझे गोद लेते ही मैंने आचार-विचार को बहा दिया था, यह तू जानता है? छोटे बच्चे को छाती से लगाकर ही समझ में आता है कि दुनिया में जाति लेकर कोई नहीं जनमता। जिस दिन वह बात समझ में आ गयी, उसी दिन से मैंने निश्चित रूप से जान लिया कि यदि मैं ख़िस्तान कहकर या छोटी जाति कहकर किसी से नफरत करूंगी तो ईश्वर तुझे भी मुझसे छीन लेंगे।...खैर छोड़ इसे। जिसे तू धर्म कहता फिरता है उसे मैं नहीं मान सकूँगी।"[19]

'जिसे तू धर्म कहता फिरता है उसे मैं न मान सकूँगी' यह कौन कर रहा है, काशी के महापंडित सार्वभौम महाशय की नातिन आनंदमयी।

अब यहीं पर, ब्रह्म समाजी परिवार में पली बढ़ी; उपन्यास की एक मुखर स्त्री पात्र परेश बाबू की बेटी ललिता का एक सनातनी हिंदू धर्म और आस्थाओं में जीने वाली स्त्री; गोरा की माँ आनंदमयी के सामने व्यक्त इस भावना को देखें : "माँ, तुमसे मैं कुछ भी नहीं छिपाऊँगी। मैं तुमसे कहती हूँ, मैं यह सब नहीं मानती। मैंने बहुत अच्छी तरह सोचकर देखा है, ऐसा कभी नहीं हो सकता कि आदमी का जो भी धर्म-विश्वास या समाज हो उसे बिलकुल छोड़कर ही आदमियों का आपसी जुड़ाव हो सकेगा। ऐसा हो तो हिंदू और ख्रिस्तान में दोस्ती ही नहीं हो सकती। तब तो बड़ी-बड़ी दीवारें खड़ी करके एक-एक संप्रदाय को एक-एक बाड़े में बंद कर देना ही ठीक है।"[20] ललिता यह इसलिए कह पा रही है कि उसे परेश बाबू जैसा पिता मिला है जो यह मानता है कि धर्म और सामाजिक रीति-नीति किसी भी मनुष्य से कभी ऊपर नहीं हो सकता। परेश बाबू ब्रह्म समाज के सदस्य हैं परंतु वह हारान बाबू उर्फ़ पानू बाबू की तरह ब्रह्म समाज के दारोगा नहीं है, जो इसमें विश्वास रखता है कि जो ब्रह्म नहीं वह पुरातन, पाखंडी, अंधविश्वासी, कर्मकांडी, मूर्तिपूजक आदि-आदि है। उसको धर्म और सत्य का वास्तविक साक्षात्कार नहीं हुआ है। उपन्यास में जहां-जहाँ परेश बाबू अपनी शांत किन्तु दृढ़ धारणाओं में व्यक्त हुए हैं, ऐसा प्रतीत होता है कि रवींद्रनाथ टैगोर स्वयं बोल रहे हों। ऊपर ललिता के संदर्भ से जो उद्धरण दिया गया है, उस भावना और विचार का पोषण खुद परेश बाबू करते हैं—"विरोध और रुकावट के बिना तो सच्चाई की परख हो ही नहीं सकती। और सच की परख किसी पुराने काल में विद्वानों के एक दल के सामने होकर हमेशा के लिए खत्म हो गयी हो, ऐसा नहीं है। हर युग के सामने बाधाओं और विरोधों के बीच से सच को नया होकर सामने आना होगा। मैं आदमी की जाती आज़ादी को मानता हूँ। उसी आज़ादी की चोट से हम ठीक-ठीक जान पाते हैं कि कौन-सा सनातन सत्य है और कौन सी मिट जाने वाली कल्पना। इसी को जानने और जनाने की कोशिश करने पर ही समाज की भलाई निर्भर करती है।"[21]

आनंदमयी और ललिता ही नहीं इस उपन्यास की प्रायः सभी स्त्री पात्र भावनात्मक रूप से सजग, वैचारिक रूप से परिपक्व, आचरण और व्यवहार से आधुनिक और तर्कशील हैं। जिसे भारतीय नवजागरण कहा गया है उस तथाकथित नवजागरण में स्त्रियों की स्थिति और भूमिका का का प्रश्न शुरू से ही बहसतलब मुद्दा रहा है। सती प्रथा, बाल विवाह, विधवा पुनर्विवाह जैसी सामाजिक कुरीतियों के साथ स्त्रियों की आज़ादी, उनकी शिक्षा, समाज-सुधार आंदोलनों में उनकी भागीदारी प्रमुख सवाल रहे हैं। उस समय के लेखन में 'स्त्री' किस रूप में चित्रित है इस पर हिंदी में कम पर अँग्रेज़ी में खूब काम हुए हैं। इस संबंध में पार्थ चटर्जी, मीनाक्षी मुखर्जी, वसुधा डालमिया आदि के नाम लिए जा सकते हैं। पार्थ चटर्जी ने तो अपनी पुस्तक 'दि नेशन एंड इट्स फ्रैग्मेंट्स : कोलोनियल एंड पोस्ट कोलोनियल हिस्ट्रीज'[22] के दो अध्यायों 'दि नेशन एंड इट्स वुमेन' और 'वुमेन एंड नेशन' में विस्तार से विचार क्या है। वह, रवींद्रनाथ के 'घरे-बाइरे' से लेकर 'गोरा' तक में स्त्री के 'घर' और 'बाहर' का आलोचनात्मक मूल्यांकन करते हैं। उस पूरे संदर्भ में जाने का अवसर यहाँ नहीं है वरना 'गोरा' उपन्यास की 'स्त्रियों' की बात भटक जाएगी। 'गोरा' की सबसे प्रमुख स्त्री पात्र है सुचरिता। सुचरिता जैसे चरित्र को रवींद्रनाथ ने यूरोपीय स्त्रियों के समानांतर एक ऐसी आधुनिक भारतीय स्त्री को सामने लाने की कोशिश की है जो देश, धर्म, जाति, समाज की समस्याओं पर अत्यंत ही तार्किक

दृष्टि के साथ अपना मत रखती है। रवींद्रनाथ ने, मातृ और मातृभूमि वाली पौराणिक छवि और कालांतर में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का आख्यान निर्मित करने में इस्तेमाल की जाने वाली 'भारतमाता' की छवि के बरक्स सुचरिता के माध्यम से बड़ी ही कुशलता से स्त्री छवि का प्रतिआख्यान रचते हैं। 'गोरा' का अध्ययन अभी इस दृष्टिकोण से नहीं हुआ है। इस संबंध में पौराणिक आधार के रूप में सबसे पहला उदाहरण वाल्मीकि रचित रामायण का है—"अयि स्वर्णमयी लंका न मे लक्ष्मण रोच्यते, जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।" लक्ष्मण, यह सोने की लंका चाहे कितनी भी सुंदर और रमणीय हो; परंतु मुझे नहीं भाती। मुझे तो मेरे अयोध्या ही सुंदर लगती है। माता और मातृभूमि से बढ़कर कुछ नहीं। उनका गौरव स्वर्ग से भी बढ़कर है। परंतु, आगे संस्कृत काव्यों में यह मातृभूमि (मदरलैंड) की यह गौरव-गरिमा वाली छवि अनुकरण में नहीं मिलती है। कालिदास के 'रघुवंश' में तो पितरों और पितृभूमि की वंदना की गई है—"वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये, जगतः पितरौ वंदे पार्वती-परमेश्वरौ।" इससे, एक बात साफ हो जाती है कि यह जो 'मातृभूमि' का, 'भारतमाता' का राष्ट्रवादी हिंदू रूपक गढ़ा गया वह औपनिवेशिक गढ़न है, और तब यह कहना पड़ता है कि 'आनंदमठ' इस रूपक का प्रारम्भिक पाठ। गोरा भी उपन्यास में मातृभूमि और भारतमाता की इस छवि का अनेक प्रसंगों में उल्लेख करता है परंतु उसका स्वर और निदर्शन भिन्न है, रवींद्रनाथ सचेत हैं। विनय पूछता है - "गोरा, बताओ कि क्या भारतवर्ष तुम्हारे लिए वास्तविक है? क्या तुम उसे स्पष्ट रूप से देख सकते हो? तुम उसे किस रूप में देखते हो?" यह सवाल जितना विनय का है उससे अधिक स्वयं रवींद्रनाथ का है। उनके सामने भारतवर्ष की एक मूर्ति 'भारतमाता' के नाम पर गढ़ी गयी है, पर इस मूर्ति में वह भारतवर्ष की वास्तविक छवि नहीं देख पाते हैं। गोरा का जवाब है—"भाई, अपनी देवी को मैं देखता हूँ तो सौन्दर्य के बीच तो नहीं, वहाँ तो सूखा है, गरीबी है, दुःख और अनादर है। वहाँ गाने गाकर, फूल चढ़ाकर पूजा नहीं होती, वहाँ जान देकर ख़ून देकर पूजा करनी होगी। मुझे तो यही सबसे बड़ा आनंद मालूम पड़ता है—वहाँ सुख में डूबने को कुछ नहीं है, वहाँ अपने ही भरोसे पूरी तरह जागते रहना होगा, सब कुछ देना होगा—वहाँ मिठास नहीं है, वहाँ एक कठिन दुस्तर मूर्ति है—निष्ठुर है, डरावना है, उसमें वह कठोर झंकार है जिसमें सातों स्वर एक साथ बज उठने से तार ही टूट जाते हैं। उसकी याद से ही मेरा मन खुशी से भर उठता है—मुझे जान पड़ता है कि यही है पुरुष का आनंद—यही है जीवन का तांडव नाच! पुराने प्रलय यज्ञ की ज्वाला के ऊपर नए की सुंदर मूर्ति देखने के लिए ही पुरुष की साधना है। लाल आसमान में मैं एक मुक्त प्रकाशपूर्ण भविष्य को देख पाता हूँ।"[23] बंकिमचंद्र और रवींद्रनाथ की दृष्टि का यह अंतर है। 'सुजलाम् सुफलाम् शस्य श्यामलम्' की जगह 'सूखा, गरीबी, दुःख, अनादर'। 'पुराने प्रलय यज्ञ की ज्वाला के ऊपर नए की सुंदर मूर्ति' देखने की कामना रवींद्रनाथ की कामना है। रवींद्रनाथ वास्तविकता से आँख बचाकर भारतमाता का गौरव गान नहीं कर रहे हैं। वह 'मातृभूमि' का कोई धार्मिक-राष्ट्रीय रूपक नहीं गढ़ रहे हैं, बल्कि उसे अपनी चिंता का विषय बनाकर, उसके संकट और बदहाली का चित्रण कर रहे हैं, उससे मुक्ति का रास्ता तलाशने का प्रयास कर रहे हैं। देबेश रॉय ने उचित ही लिखा है कि "उनके देखे दुनिया में 'गोरा' की तरह का कोई दूसरा उपन्यास अब तक नहीं लिखा गया है जो मातृभूमि को मुख्य कहानी का विषय बनाता हो। उन्होंने थॉमस मान के महकाव्यात्मक उपन्यास 'दि मैजिक माउंटेन' का उल्लेख किया है जिसके नायक हैन्स कॉस्टार्प की एक हद तक गोरा से तुलना की जा सकती है। पर यह उपन्यास गोरा के छपने के 14 साल बाद 1924 में प्रकाशित होता है।"[24] स्वाधीनता की लड़ाई में देशप्रेम की भावना से इस

राष्ट्रीय रूपक और आत्मछवि की भूमिका और महत्त्व का एक अर्थ था। गोरा, सुचरिता को भी इसी आत्मछवि के रूप में पाना चाहता है। परंतु, वह स्वयं सुचरिता को लेकर अपने व्यक्तित्व के विपरीत बहुत स्पष्ट नहीं है। सुचरिता, विनय और गोरा के बीच की उस बहस की धुरी है जिसमें धर्म और शास्त्र के मोहर लगे आचार-संहिता में स्त्री को पुरुष के 'पुरुषार्थ' के मार्ग की बाधा माना गया है। इस मध्ययुगीन धारणा को लेकर विनय और गोरा परस्पर ख़ूब एक दूसरी की धज्जियाँ उड़ाते हैं। इसमें कभी-कभी सुचरिता भी शामिल हो जाती है। गोरा को शुरू में लगता है कि उसके देशप्रेम और राष्ट्रीय कर्तव्य में सुचरिता क्या कोई भी स्त्री बाधा बनेगी। वह तो विनय को भी परेश बाबू के घर जाने से मना करता है क्योंकि सुचरिता के अलावा परेश बाबू की तीनों लड़कियाँ लावण्य, ललिता और लीला के खुलेपन और आचार-विचार को लेकर वह सशंकित है। परंतु गोरा की तुलना में उपन्यास में विनय का चरित्र अधिक संतुलित और व्यावहारिक है। वह इस मुद्दे पर स्पष्ट है कि आज के समय में स्त्री को जब तक पुरुष का संगी और साझीदार नहीं बनाया जाएगा तब तक देशभक्ति और भारतवर्ष की आज़ादी का मतलब अधूरा रहेगा। विनय और गोरा का यह वार्तालाप देखना चाहिए : "देखो गोरा, मैं एक बात कहना चाहता हूँ। मुझे लगता है, हमारी देशभक्ति में बहुत बड़ा अधूरापन है। हम लोग भारतवर्ष को अधूरे रूप में देखते हैं।" गोरा - "वह कैसे?'' विनय - "हम भारतवर्ष को केवल मर्दों के देश के रूप में देखते हैं। औरतों को बिल्कुल देखते ही नहीं।" गोरा- "तो तुम शायद अंग्रेजों की तरह घर-बाहर, पानी में, जमीन पर और आसमान में, खान-पान, रहन-सहन और सभी कामों में सभी जगह स्त्रियों को देखना चाहते हो? उसका नतीजा यही होगा कि मर्दों से औरतों को बढ़ कर मानना होगा।" विनय—नहीं, नहीं मेरी बात को ऐसे उड़ा मत दो। अंग्रेजों की तरह देखने न देखने का सवाल नहीं उठता। मैं कहता हूँ यह सच है कि अपने यहाँ औरतों को हम लोगों ने अपने सोच-विचार में उचित स्थान नहीं दिया है।"[25] अथवा आनंदमयी से विनय की यह बातचीत—"हमलोग देश को मातृभूमि कहते हैं, लेकिन देश की नारी-मूर्ति की गरिमा अगर हम देश की स्त्रियों में ही स्पष्ट न करें—अगर अक्ल से, ताकत से, उदार कर्तव्य के एहसास से स्त्रियों को उनके सरल, तेजस्वी और सम्पूर्ण रूप में न देखें, अपने घरों में केवल कमजोरी, तंगदिली और अधूरापन ही देखते रहें तो देश का रूप कभ भी हमारे सामने साफ नहीं आ सकेगा।"[26] विनय के माध्यम से रवींद्रनाथ टैगोर की यह स्त्री-छवि न तो ब्रह्मसमाजी है और न ही हिंदू धर्म-शास्त्र अनुमोदित।

रवींद्रनाथ आधुनिक दृष्टि सम्पन्न लेखक चिंतक थे। वे जानते थे कि बिना स्त्रियों की समान भागीदारी के 'भारतमाता' की छवि स्वप्निल भावुकता से अधिक और कुछ नहीं। धीरे-धीरे, लगातार सुचरिता से मिलने जुलने और संवाद के बाद गोरा को लगता है कि नहीं सुचरिता को उसके दल में होना चाहिए। अगर वह उसके साथ हो जाये, उसके दल में आ जाये तो गोरा का काम और आसान हो जाये। पर सुचरिता इसको जानती है, वह यह पहचानती है कि यह केवल देशप्रेम के ज़रूरत से ज्यादा उत्साह के चलते है, उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व की स्वीकारोक्ति का भाव इसमें नहीं है। इसीलिए वह धर्म, जाति, शुद्धता, पवित्रता, छूआछूत, भेदभाव जैसे मुद्दों पर कभी विनय के जरिए तो कभी गोरा से सीधे सवाल करती है। वह विनय से पूछती है, 'अच्छा, गौरमोहन बाबू क्या सचमुच जाति को लेकर भेदभाव नहीं मानते?' 'जाति-भेद का नतीजा हमारे देश के लिए कैसा है?' 'आपके मित्र गोरा तो हिंदू धर्म की शुद्धता और उच्चता के आगे किसी और विचार को कोई महत्त्व ही नहीं देते? इन सवालों पर विनय पूरी तार्किकता के साथ गोरा के पक्ष से सफाई देता है। इन स्पष्टीकरणों से पाठक न केवल गोरा

के चरित्र और उसकी सोच से रू-ब-रू होते हैं बल्कि प्राकारांतर से रवींद्रनाथ टैगोर के विचारों और धारणाओं से भी परिचित होते हैं। जैसे, हिंदू धर्म के संबंध में गोरा के लिए सुचरिता के एक सवाल के जवाब में विनय का यह जवाब, हिंदू धर्म संबंधी रवींद्रनाथ की धारणा का भी स्पष्टीकरण है—"हमारे देश में आमतौर पर जो अपने को परम हिंदू मानकर घमंड करते हैं, मेरे मित्र गोरा को आप उनमें से न समझिएगा।...गोरा बिलकुल ऐसे नहीं हैं। वे हिंदू धर्म के नियमों से अनास्था नहीं रखते, लेकिन ऐसे फूँक- फूँक कर नहीं चल सकते। हिंदू धर्म को वह अंदर से और बहुत ऊँची दृष्टि से देखते हैं। वह कभी ऐसा नहीं सोचते कि हिंदू धर्म के प्राण इतने कमज़ोर हैं कि जरा-सा छू देने से ही मुरझा जाएँगे या ठेस लगते ही मर जाएँगे।"[27] इसे आज 'हिंदू धर्म और हिंदुत्व खतरे में है' की चेतावनी जारी करने वाले हिंदुओं को अवश्य पढ़ना चाहिए। आज एक सौ दस साल बाद भी 'गोरा' इसीलिए 'हिंदुत्व' और 'राष्ट्रवाद' की समकालीन बहस के लिए एक जरूरी पाठ की तरह उपस्थित होता है। सुचरिता और विनय को उपन्यासकार ने गोरा के चरित्र को उभारने के लिए एक औपन्यासिक युक्ति की तरह उपयोग में लिया है। इन सवालों और जवाबों के जरिए दरअसल वह पाठक को अपने समय के सवालों और जवाबों के बीच रख देता है। उपन्यास में परेश बाबू के घर पर सभी जमा हैं। उस दिन वहाँ गोरा भी है। देश, धर्म आदि पर जोशोखरोश के साथ गोरा बोल रहा है। सुचरिता के एक सवाल पर, गोरा द्वारा भारत के 'स्व' को पहचानने की इस दलील के साथ सुचरिता के लिए यह पुकार काफी प्रभावी है—"आप शर्तिया जानिए, भारत की एक विशेष बनावट है, विशेष बल है, विशेष सचाई है। उसी के पूरे तौर पर विकास के द्वारा भारत सफल होगा, भारत का बचाव हो सकेगा। अंग्रेजों का इतिहास पढ़कर भी हमने यह न सीखा, तो सभी कुछ गलत सीखा है। आपसे मेरा यही आग्रह है, आप भारतवर्ष के भीतर आइए, उसकी सब अच्छाई-बुराई के बीचो-बीच खड़ी होइए। बुराई हो तो भीतर से संशोधन कर दीजिए; लेकिन उसे देखिये समझिए, उस पर सोचिए, उसकी ओर मुड़िए, उसके साथ एक होइए।"[28] गोरा की इस देश-भावना को सुनकर, सुचरिता का यह सवाल—"देश की बात मैंने इस ढंग से, उसे इतना बड़ा, इतना सच मानकर कभी नहीं सोची। लेकिन एक बात मैं पूछना चाहती हूँ—"धर्म के साथ देश का क्या रिश्ता है? धर्म क्या देश से अलग नहीं है?"[29]—वह औपन्यासिक युक्ति है जो उपन्यासकार बड़े ही सलीके से प्रयोग में लेता है। धर्म के साथ देश का क्या रिश्ता है? धर्म क्या देश से अलग नहीं है? यही तो इस उपन्यास का केंद्रीय सवाल है, इस सवाल के जरिए ही तो रवींद्रनाथ धर्म, राष्ट्र, देश आदि के संबंध में गोरा के जरिए अपना एक जवाब पाठकों तक पहुंचाते हैं। जैसा कि, ऊपर कहा गया है कि बंग-भंग और उसके बाद औपनिवेशिक शासन और राज्य व्यवस्था के विभाजन की रणनीति के विरोध में विकसित स्वदेशी और राष्ट्रीय एकता की भावना इस उपन्यास रचना के प्रस्थान बिन्दु हैं। इस आंदोलन ने 'विजातीय' बनाम 'स्वदेशी' की भावना को इस महत्तम तक जाकर पाने की कोशिश की कि उसके लिए समर्थन और सहयोग जुटाने के लिए अनेक पुनरुत्थानवादी तरीकों को भी अपनाया गया। ख़ुद रवींद्रनाथ टैगोर ने भी 'वंदे मातरम' के साथ-साथ जनता के एकीकरण और एकत्रीकरण के लिए हिंदू धर्म के कर्मकांडों और तौर-तरीकों का इस्तेमाल किया। प्रसिद्ध इतिहासकार तनिका सरकार ने इस पक्ष पर विस्तार से लिखा है। वह लिखती है—"रवींद्रनाथ भी बंकिमचंद्र की तरह ही सामाजिक और राजनीतिक चिंतन के कई चरणों से गुजरे थे। पर उनके मामले में संक्रमण विपरीत दिशा में हुआ। 'गोरा' लिखने के ठीक पहले, 1905-10 के बीच औपनिवेशिक राज्य के विरोध में एक व्यापक आंदोलन उभरा था। राज्य ने अत्यंत मनमाने ढंग से हाल में ही

बंगाल प्रांत का विभाजन कर दिया था। अंग्रेज़ी कपड़ों का बायकाट हुआ था और उन्हें जलाया गया था, उन भारतीयों का सामाजिक बहिष्कार हुआ था जो सरकारी अधिकारी थे और राज्य के प्रति वफादार थे, बहुत बड़े-बड़े जुलूस निकाले गए थे और विदेशी सामानों की दुकानों के आगे धरना दिया गया था। अंततः, अंग्रेजी अधिकारियों की हत्या का सिलसिला शुरू हुआ था। रवींद्रनाथ इस आंदोलन के प्रारंभिक चरण से गहरे रूप मे जुड़े थे और उन्होंने इसके सांस्कृतिक चिह्नों तथा प्रतीकों को गढ़ा था। अन्य राष्ट्रवादी नेताओं की तरह उन्होंने भी जनता को गोलबंद करने के लिए हिंदू अनुष्ठानों का इस्तेमाल किया था और मौके पर हिंदू सामाजिक संस्थाओं तथा कानूनों को भी उचित ठहराया था। यही नहीं, जाति को सामाजिक सामंजस्य पैदा करने वाला श्रम का सहमतिजन्य तथा तर्काधारित विभाजन ठहराया था। इसी मनोदशा में उन्होंने सित्रायों से संबंधित कतिपय ब्राह्मणवादी रीति-रिवाजों जैसे सती-प्रथा आदि को भी सहमतिजन्य बताया। 1904 में उन्होंने स्वदेशी समाज में लिखा : 'क्या हिंदू धर्म इसमें से सबको दिनानुदिन हमारे इस भारतवर्ष के साथ आत्मीयता और भक्ति के सूत्र में बाँध नहीं देगा, इस भारतवर्ष से जो हमारे देवताओं का निवास-स्थान, हमारे ऋषियों की तपोभूमि और हमारे पूर्वजों का जन्म-स्थान है?' 'गोरा' में ये विचार और ये शब्द भी इतनी बार और इतनी मजबूती से दुहराए गए हैं कि इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है कि उपन्यास के प्रारंभिक गोरा की देशभक्ति की भाषा के आदर्श स्वदेशी चरण के रवींद्रनाथ ही हैं। अतः कहा जा सकता है यह विभक्त राग में प्रस्तुत आत्मचरितात्मक उपन्यास है। प्रारंभिक और परवर्ती गोरा रवींद्रनाथ के जीवन के दो भिन्न राजनीतिक चरणों को प्रतिबिंबित करता है।"[30] निश्चित तौर पर 'गोरा' रचनात्मक तौर पर रवींद्रनाथ टैगोर की विश्वदृष्टि का प्रस्थान है जो आगे चलकर उनकी सार्वभौम मानवीय भावना वाली दृष्टि में निष्पन्न होता है। रवींद्रनाथ टैगोर सभी धर्मों के ऊपर सार्वभौम मानवीय भावना (universal human spirit) को सबसे बड़ा धर्म मानते हैं। उपन्यास के अंत में गोरा को वे इसी भावना के तल पर लाकर छोड़ते हैं। यहाँ वह न तो हिंदू है न ईसाई। वह सिर्फ भारतीय है। उपन्यास के लगभग दो तिहाई हिस्से में गोरा भारतीय नवजागरण के उस सिद्धान्त की निर्मिति अधिक है जिसमें औपनिवेशिक अथवा ओरिएंटल दृष्टि के तहत भारतीय समाज के विजड़ित होने और उसे उसकी जड़ता से निकालने की दृष्टि काम कर रही थी। हिंदू राष्ट्रवाद से सार्वभौम मानवता और भारतीयता की यात्रा इस उपन्यास का लक्ष्य है। गोरा इस यात्रा का यात्री और मंजिल दोनों है। उपन्यास के अंत में गोरा का व्यक्तित्व जिस मुकाम पर पहुंचता है वह भारतीयता का सार-संग्रह है। कुछ आलोचकों ने 'गोरा' के इस अंत पर रवींद्रनाथ टैगोर के ऊपर केशवचंद्र सेन के मानव-कैथोलिकवाद के असर के रूप में देखा है, परंतु है यह मूल भारतीय आत्मा की उपलब्धि है, इसका अन्यथाकरण उचित नहीं। हाँ, गोरा के अंत का जो तरीका रवींद्रनाथ ने चुना है उस पर ज़रूर सोचा जाना चाहिए, क्योंकि गोरा के अंदर भारतीयता की मूल स्पिरिट की समझ, भारतीय रहन और स्वभाव के व्यावहारिक अनुभवों और संघर्षों से होकर गुजरते हुए व्यक्तित्वांतरण की प्रक्रिया में नहीं बल्कि जातीयता की धार्मिक संरचना में ही पैदा होती है जिसमें पहचान और अस्तित्व का दूसरा सिरा नकार में ख़त्म होता है। जब गोरा को कृष्णदयाल बाबू और आनंदमयी से यह पता चलता है कि वह एक आयरिश है। गदर के वक्त उसके पिता इटावा में मारे गए थे, उसकी आयरिश माँ भागकर कृष्णदयाल बाबू यहाँ शरण ली थी और वहीं पर उसने गोरा को जन्म दिया और उसी रात वह भी मर गयी थी। तो गोरा के आगे सबकुछ शून्य प्रतीत होता है। क्षण भर में गोरा के लिए सब कुछ बदल जाता है, अब "उसके न माँ है, न बाप है, न देश है, न

जाति है, न नाम है, न गोत्र, न देवता—वह जैसे पूरी तरह एक नकार है।"[31] अब गोरा की अपनी कोई जातीय पहचान नहीं है। वह सबसे मुक्त हो चुका है। वह अब आज़ाद है। अपनी इस आज़ादी को लिए-दिए सीधे वह परेश बाबू के घर पहुँचता है, "मैं आज़ाद हूँ परेश बाबू! अब मुझे यह ध्यान नहीं है कि मैं पतित हो जाऊंगा या ब्रात्य हो जाऊंगा।...मैं यकायक छुटकारा पाकर एक बहुत बड़े सच के बीच आ गिरा हूँ। समूचे भारतवर्ष का अच्छा-बुरा, सुख-दुःख, ज्ञान-अज्ञान सब बिलकुल मेरे दिल के पास पहुँच गया है। आज मैं सचमुच सेवा का हकदार हुआ हूँ, सच्चा कार्यस्थल मेरे सामने आ गया है—वह मेरे कल्पना का स्थल नहीं है, वह बाहर की इस पच्चीस करोड़ जनता के सच्चे कल्याण का स्थल है।...मैं दिन रात जो होना चाह रहा था, लेकिन हो नहीं पा रहा था, आज मैं वही हो गया हूँ।...आज आज़ाद होकर मैं सबसे पहले आपके पास क्यों आया हूँ जानते हैं क्यों?...क्योंकि आपके पास ही इस आज़ादी का मंत्र है। इसीलिए आज आपको किसी समाज में जगह नहीं मिल रही है। आप मुझे अपना चेला बना लीजिए। आज आप मुझे उसी देवता का मंत्र दीजिए जो हिंदू-मुसलमान, ख्रिस्तान-ब्राह्म सबका है, जिसके मंदिर का दरवाज़ा किसी जाति, किसी आदमी के लिए कभी बंद नहीं होता—जो सिर्फ हिंदू का देवता नहीं सारे भारतवर्ष का देवता है।...सुचरिता अब मैं तुम्हारा गुरु नहीं हूँ। मैं तुमसे यही विनती करता हूँ कि मेरा हाथ पकड़कर तुम मुझे इन गुरु के पास ले चलो। कहते-कहते गोरा ने अपना दाहिना हाथ सुचरिता की ओर बढ़ा दिया। सुचरिता ने खड़े होकर अपना हाथ गोरा के हाथ में रख दिया। तब गोरा ने सुचरिता के साथ परेश बाबू को प्रणाम किया।"[32] भारतीयता का यही उच्च आदर्श है जिसे रवींद्रनाथ टैगोर गोरा के माध्यम से यहाँ रखते हैं।

देश और धर्म के रिश्ते को लेकर सुचरिता ने जो सवाल ऊपर उठाया था उसको जितना गोरा के पक्ष से समझा जा सकता है उससे अधिक परेश बाबू के चरित्र से। परेश भट्टाचार्य उर्फ परेश बाबू, स्कूल इंस्पेक्टर की नौकरी से रिटायर होकर कलकत्ते में रहने के लिए आ गए थे। ब्रह्मसमाजी हैं। उपन्यास में रवींद्रनाथ के आदर्श और सिद्धान्त की व्यावहारिकता को उपन्यास में सहज तार्किकता से रखने वाले सरल किन्तु दृढ़ पात्र हैं। धार्मिक मान्यताओं की कट्टरता और सामाजिक रूढ़ियों और अवरोधों की तुलना में मनुष्य की गरिमा और आज़ादी के पक्षधर हैं। समाज और मनुष्य के हित में न्याय और अन्याय के पक्ष-विपक्ष को अच्छी तरह जानते हैं। घोसपुर वाले मामले में जिस मजिस्ट्रेट ने गोरा को सज़ा सुनाई थी, जिसके चलते गोरा को एक महीने की जेल हुयी थी, परेश बाबू कड़े शब्दों में अंग्रेजों की न्याय-बुद्धि और शक्ति-सत्ता की भर्त्सना करते हैं। उसी मजिस्ट्रेट और उसकी गोरी मेम को खुश करने के लिए हारान बाबू की ओर से परेश बाबू की लड़कियों की की ओर से खेला जाने वाला नाटक छोड़कर ललिता का संयोगवश विनय के साथ स्टीमर से अकेले वापस आ जाने की घटना को बंगाली भद्रलोक और खासकर ब्रह्मसमाजी हारान बाबू उर्फ पानू बाबू को बहुत बुरा लगता है। पानू बाबू सुचरिता के होने वाले पति हैं। परेश बाबू के घर में उनका बेधड़क आना जाना है। परेश बाबू की पत्नी वरदासुंदरी का उनको भरपूर समर्थन मिला हुआ है। इस कारण वे अपने को अनायास परेश बाबू की लड़कियों सामाजिक अभिभावक मान बैठे हैं। ललिता को भला-बुरा कहने पर वह भी चुप नहीं रहती। वह पानू बाबू का कड़े शब्दों में विरोध करती है—"हमारे बारे में बाबा की क्या ज़िम्मेदारी है, आपका ख्याल है कि आप बाबा से ज्यादा जानते हैं। क्या आप ही सारे ब्रह्मसमाज के हेडमास्टर हैं।"[33] परेश बाबू भी बहुत ही सधे और दृढ़ स्वर में हारान बाबू को कहते हैं—"बुराई तो बाहर से की जा सकती है, लेकिन इंसाफ़

करने के लिए भीतर पैठना होता है। केवल किसी घटना की वजह से किसी को कसूरवार न ठहरा दें।"[34] जब विनय और ललिता के बीच विवाह का मसला हिंदू धर्म और ब्रह्मसमाज की कट्टरता का मसला बन जाता है और विनय के साथ-साथ ललिता और परेश बाबू को भी कह दिया जाता है कि यह शादी तभी संभव हो सकती है जब विनय ब्रह्म समाज को अपना ले। विनय ललिता की खातिर गोरा से हर तरह का बहस कर के ब्रह्मसमाजी होने के लिए तैयार भी हो जाता है। पर, परेश बाबू जब उससे पूछते हैं कि "धर्म-विश्वास के बारे में ब्रह्म समाज से तुम्हारे विचार तो मिलते हैं न?" इस पर जो विनय का जवाब है वह अत्यंत ही सार्थक है—"आपसे सच कहूँ, पहले मैं सोचता था कि मेरा कुछ न कुछ धर्म पर विश्वास है, इसे लेकर मेरा कई लोगों से काफी झगड़ा भी होता रहा है, लेकिन आज मैं स्पष्ट जानता हूँ कि मेरी जिंदगी में अभी धर्म-विश्वास फला-फूला नहीं है। इतना भी समझ सका हूँ तो आपको देखकर धर्म की मुझे अपनी जिंदगी में सच्ची जरूरत नहीं हुई और उसमें सच्चा विश्वास पैदा नहीं हुआ, इसीलिए मैं ख़यालों और दलीलों से अब तक अपने समाज में चल रहे धर्म की ही तरह-तरह की करके केवल अपनी दलीलबाजी की चतुरता बढ़ाता रहा हूँ।"[35] फिर भी परेश बाबू विनय की इस भावना से पूरी तरह आश्वस्त नहीं होते हैं। वह जानते हैं कि विनय स्थिर-बुद्धि से नहीं बल्कि प्रतिक्रिया में यह बात कह रहा है। इसलिए वे विनय और ललिता के पक्ष और स्वाभिमान से इस विवाह के मसले को सुलटाना चाहते हैं। पर वरदासुंदरी और हारान बाबू की टेक कुछ और ही है। अंततः परेश बाबू को ही ब्रह्म समाज से बहिष्कृत कर दिया जाता है। परेश बाबू धर्म और संप्रदाय की इस संकीर्णता से आहत हो उठते हैं—"संप्रदाय ऐसी चीज़ है कि लोगों की सबसे सीधी बात यह जो है कि इंसान इंसान है, भुला देता है। इंसान ब्राह्म है कि हिंदू, समाज की गढ़ी हुयी इस बात को संसार-व्यापी सच से बड़ा मानकर एक झमेला खड़ा कर देता है। मैं भी अब तक इसी झूठ के भँवर में फँसा था।"[36] विवाह वाले इस पूरे प्रसंग को केशवचंद्र सेन की पुत्री का कूचबिहार के महाराजा के साथ विवाह और ब्रह्म समाज के विघटन से जोड़कर देखा जा सकता है। केशवचंद्र सेन से असहमति और विरोध दर्ज करने वाले और कोई नहीं बल्कि खुद उनके पिता देवेंद्रनाथ टैगोर थे। उपन्यासकार ने उपन्यास में हिंदू धर्म और ब्रह्म समाज की मान्यताओं, रीतियों, विश्वासों, की असंगतियों के बहाने धर्म मात्र पर पर अपने प्रमुख पात्रों के सहारे खुलकर बहस-विचार किया है। परस्पर एक दूसरे के सवालों-जवाबों में उन अंतर्विरोधों को भी प्रत्यक्ष किया है इन चरित्रों के साथ-साथ ख़ुद रवींद्रनाथ के भी अंतर्विरोध हैं। परेश बाबू की धर्म-निरपेक्ष दृष्टि में पूरे उपन्यास में कहीं भी असंतुलन नहीं मिलेगा, सिवाय एक जगह के। उपन्यास के आख़िरी हिस्से में सुचरिता और परेश बाबू हिंदू धर्म को लेकर बातचीत कर रहे हैं। जैसे इसके पहले, धर्म और देश के रिश्ते को लेकर उसका सवाल था, उसी तरह वह धर्म और समाज के रिश्ते को लेकर परेश बाबू से सवाल-जवाब कर रही है। उसके एक सवाल के जवाब में परेश बाबू का यह कथन 'हिंदूवाद' के पक्ष में जाता है—"पुराने जमाने में हिंदू समाज के झरोखे खुले थे। उन दिनों इस देश की अनार्य जातियाँ हिंदू समाज में आ मिलने को एक गौरव महसूस करती थीं। इधर मुसलमानों की हुकूमत में भी देश के करीब-करीब सभी जगह हिंदू राजों-रजवाड़ों का असर काफी था, इसिलिए किसी समाज से निकाल कर जाने के ख़िलाफ़ कायदों की कमी नहीं थी। अब अंग्रेज़ के शासन में सभी कानून के द्वारा रक्षित हैं, अब वैसे नकली तरीकों से समाज के दरवाजे पर कुंडी लगाए रखने का मौका नहीं है—इसीलिए कुछ दिनों से यही देखा जा रहा है कि भारतवर्ष में हिंदू कम हो रहे हैं और मुसलमान बढ़ रहे हैं। यही सिलसिला रहा तो धीरे-धीरे देश मुसलमान

बहुल हो जाएगा, तब इसे हिंदुस्तान कहना ही गलत होगा।"[37] 'गोरा' के व्याख्याकारों ने अभी तक 'गोरा' की व्याख्या में इस तरह के प्रसंगों को छोड़ रखा है। 'गोरा' में वैसे भी इस्लाम या मुसलमानों पर बहुत कम चर्चा है। प्रसंगवश, एक-आध जगहों पर। रवींद्रनाथ टैगोर के पूरे लेखन में उनकी इस्लाम संबंधी धारणाओं पर स्पष्ट तौर से बहुत कुछ नहीं मिलता है। जबकि, हिंदू, धर्म, ईसाईयत और ब्रह्म समाज पर इसी उपन्यास में ख़ूब बहस और चर्चा है। ऊपर अंतर्विरोधों की बात की गयी है और धार्मिक विश्वासों और मान्यताओं की दृष्टि से अत्यंत ही उदार परेश बाबू के हवाले से एक हिंदू समाज के ख़त्म होने की आशंका का जिक्र हुआ है। अब इसी संदर्भ में, एक अन्य प्रसंग का उल्लेख ज़रूरी है। यह प्रसंग घोसपुर गाँव में गोरा के संग जुड़ा हुआ है। घोसपुर गाँव की जमींदारी में एक पूरा टोला मुसलमानों का है। इस टोले में पुलिस वालों की ज़ोर-जबर्दस्ती का कोई हिसाब नहीं है। एक मुसलमान बच्चे को पुलिस की पिटाई से गोरा उबारता है। वह कुछ दिनों तक इसी गाँव में उस नाई के घर रुकना चाहता है जिसने उस मुसलमान बच्चे को शरण दी है। पर उसका सहयोगी रमापति उसके रुकने का समर्थन नहीं करता है। क्योंकि गोरा का धर्म इन विधर्मियों के बीच रहकर भ्रष्ट हो जाएगा। इस पर गोरा का रमापति को जवाब है उसे देखना चाहिए—"शुचिता को बाहर की चीज बनाकर भारतवर्ष में हम यह कितना भीषण अधर्म कर रहे हैं। जो आदमी जान बूझकर फसाद खड़ा करके इन मुसलमानों पर ज़ुल्म कर रहा है उसके घर में मेरी जाति क़ायम रहेगी और जो उस ज़ुल्म को सहता हुआ मुसलमान के बच्चे की हिफ़ाज़त कर रहा है और समाज की बुराई सहने को तैयार है, उसके घर में मेरी जाति चली जाएगी?"[38] यह वही गोरा है जो इस कारण अपनी माँ आनंदमयी के कक्ष में खुद खाना नहीं खाता और अपने दोस्त विनय को भी नहीं खाने देता कि आनंदमयी हिंदू होकर भी हिंदू रीति-रिवाजों की परवाह नहीं करतीं, अपने काम में हाथ बंटाने के लिए ख्रिस्तान लछमिया को नौकरानी रखे हुई हैं। ख्रिस्तान लछमिया के हाथ का छुआ खाना 'हिंदू हितैषी सभा' के सभापति गौर मोहन उर्फ गोरा उर्फ दादा ठाकुर कैसे खा सकते हैं। पर, एक अन्य प्रसंग में, परेश बाबू के इस तर्क से कि—"एक बिल्ली को थाली के पास बैठकर खाने में कोई बुराई नहीं समझी जाती, लेकिन एक आदमी के उस कमरे में आने से भी खाना फेंक देना होता है, जिस जाति-भेद से आदमी के लिए आदमी में ऐसा अपमान और नफरत का भाव पैदा हो, उसे अधर्म न कहा जाय तो क्या कहा जाए?"[39]—जैसे उपन्यासकर जवाब दे रहा हो। इसी तरह से विनय के इन कथनों पर भी ध्यान देना चाहिए—"जिस दिन समझ लूँगा कि हिंदूपन का मतलब सिर्फ खान-पान और छूआछूत के बेकार नियम ही हैं, उस दिन चाहे ब्रह्म, चाहे ख्रिस्तान, चाहे मुसलमान, कुछ-न-कुछ हो जाऊंगा। लेकिन अभी हिंदुत्व पर इतनी अश्रद्धा नहीं हुई है।"[40] अथवा, "हिंदू समाज की ऐसी तंग हालत हो गयी हो तो उससे उसे आज़ाद कराने की ज़िम्मेदारी हमें लेनी होगी। और रोशनी के लिए अगर घर के खिड़की-दरवाजे बड़े कर देना ही बहुत हो तो कोई यों ही गुस्से में आकर सारे पक्के मकान को क्यों गिरना चाहेगा?"[41] दरअसल, यह अंतर्विरोध रचकर ही रवींद्रनाथ धर्मों की वास्तविक सचाई जानने और जनाने के लिए धीरे-धीरे उपन्यास को उस मुक़ाम तक ले जाने का रास्ता निकालते हैं जहाँ मजहब नहीं इंसानियत का आदर्श अपने महत्तम रूप में बचा रहता है। धर्म की अगर कोई अहमियत हो सकती है तो वह समूची इंसानियत को बचाए बनाए रखने में सहयोग के रूप में ही। जो धर्म इंसानियत से दगा करता है, इंसान-इंसान में फूट डालता हो वह दलबंदी है, पंथवाद है, संप्रदायवाद है, फिरकापरस्ती है, धर्म नहीं है। रवींद्रनाथ इस मान्यता पर दृढ़ हैं। तभी तो वह गोरा से भी कहलवाते हैं,

"समूची इंसानियत का क्या मतलब है यह आप समझती हैं? उसमें कितनी तरह के स्वभाव हैं—कैसे-कैसे रुझान हैं, क्या-क्या जरूरतें हैं? सभी आदमी एक ही रास्ते पर एक जगह खड़े नहीं हैं। किसी के सामने पहाड़ है, किसी के सामने सागर, किसी के सामने जंगल फिर भी किसी के लिए बैठे रहने का मौका नहीं है, सभी को आगे बढ़ते ही जाना है।...मुझे और कुछ नहीं कहना है—भारतवर्ष को आप अपनी सहज बुद्धि से, सहज मन से देखें, उसे प्यार करें। भारतवर्ष के लोगों को आप केवल यह मानकर देखेंगी कि वे अब्राह्म हैं तो यह उन्हें बिगाड़ कर देखना होगा और उनकी अनदेखी करेंगे, तब उन्हें लगातार ग़लत ही समझती रहेंगी। जहाँ से देखने पर उन्हें पूरी तरह से देखा जा सकता है, वहाँ से आप उन्हें नहीं देख रही होंगी। ईश्वर ने उन्हें अलग-अलग बनाया है, वह अलग-अलग तरह से चलते हैं, उनके अलग-अलग विश्वास और संस्कार हैं—लेकिन सबकी जड़ में एक ही इंसानियत है, सबके भीतर ऐसा कुछ है जो हमारी अपनी चीज़ है, जो हमारे इस भारतवर्ष की चीज़ है, जिसको सही-सच्ची नजर से देखने पर उसका सारा छोटापन, अधूरेपन का आवरण चीरकर एक अद्भुत महान सत्ता आँखों के सामने आती है। बहुत दिनों की बहुत-सी साधनाएँ उसमें छिपी हुई हैं, उसकी राख़ में अब भी बहुत दिनों की होम की आग जल रही है और वही आग एक दिन आपके तुच्छ देश-काल के ऊपर उठकर सारी दुनिया में अपने शोले जागा देगी, इसमें जरा भी शक नहीं।"[42] इंसानियत के इसी आदर्श को वह भारतीयता के पर्याय के रूप में देखते हैं। वे इस उपन्यास के द्वारा 'देश और धर्म' के पारस्परिक रिश्ते को समझने के बहाने हिंदू, हिन्दुत्व, भारत, भारतीयता को अत्यंत ही सारगर्भित रूप से प्रस्तुत करते हैं। ऐसा वही व्यक्ति कर सकता है जिसकी अखंड आस्था धर्म से ऊपर मनुष्यता में हो। वे लिखते हैं—"मनुष्य का बदलाव इंसानियत की राह पर ही होगा—बच्चा वक़्त के हिसाब से बूढ़ा हो जाता है, लेकिन आदमी यकायक कुत्ता-बिल्ली तो नहीं हो जाता? भारतवर्ष का बदलाव भारतवर्ष के रास्ते पर ही होना चाहिए, यकायक अँग्रेज़ी इतिहास का रास्ता पकड़ लेने से एक छोर से दूसरे छोर तक सबकुछ लूला-लँगड़ा और बेकार हो जाएगा। देश की ताकत, देश की दौलत सब देश में ही भरी है। यह तुम सबको बताने के लिए ही मैंने अपनी जिंदगी सौंप दी है।"[43] निश्चित ही रवींद्रनाथ ने अपना रचनात्मक जीवन, इंसानियत को खोजने, पाने और रचने में ही खपा दिया। इस संदर्भ में 'गोरा' उनकी रचनात्मक यात्रा की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

संदर्भ और टिप्पणियाँ :

1. सुशोभन सरकार, बंगला नवजागरण, हिंदी अनुवाद : एस. एन. कानूनगो, ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, 1997.
2. Sushobhan Sarkar, Bengal Renaissance and Other Essays, People Books House, New Delhi, 1970
3. वही, पृ. 166.
4. दीपांकर रॉय, रूपकथा (जर्नल), भाग-2, अंक-4, 2010. रवींद्रनाथ टैगोर विशेषांक, संपादक-अमित सेन, पृ. 385
5. इस पुस्तिका के चारो लेख 'आर्य' नामक एक अँग्रेजी पत्रिका के अगस्त से नवंबर 1918 के अंक में धारावाहिक छपे थे। देखें : Arvindo Ghos, The Renaissance in India and other Essay on Indian Culture, Sri Arvinodo Ashram Publication department, Sri Arvindo Ashram Press, Pondicherry, 1997-
6. Hans Harder, 'The Modern Babu and the Metropolis: Reassessing Early Bengali Narrative Prose (1821-1862)' –India's literary History: Essays on the Nineteenth Century, Edt. By-Stuart Blackburn & Vasudha Dalmia, Permanent Black, Delhi, p. 359
7. वही, पृ. 374.

8. नामवर सिंह, प्रेमचंद और भारतीय समाज, (संपा. आशीष त्रिपाठी), राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 41.
9. Summerhill IIAS Review (Journal), Vol- 8, No- 2, winter 2002, Indian Institute of Advance Study, Shimala.
10. के. दामोदरन, भारतीय चिंतन परंपरा, संपा. रामशरण शर्मा 'मुंशी', अनु.- जी. श्रीधरन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाऊस, नयी दिल्ली, पृ. 33.
11. U. R. Ananthamurthy, Suragi, Translated from Kannada by S. R. Ramakrishna, Oxford University Press, India, 2018, p. 319-20.
12. रवींद्रनाथ टैगोर, राष्ट्रवाद, (हिंदी अनुवाद : सौमित्र मोहन) नेशनल बुक ट्रस्ट, नयी दिल्ली, 2003
13. मिखाइल बाख्तिन, महाकाव्य और उपन्यास, हिंदी अनुवाद- योगेंद्र नागपाल, बीसवीं सदी का साहित्य—भाग 1 : साहित्य और सौंदर्य शास्त्र, रादुगा प्रकाशन, मास्को, संकलनकर्ता : ये. सीदोरोव, पृ. 299.
14. रवींद्रनाथ टैगोर, गोरा, हिंदी अनुवादरू अज्ञेय, साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली, 1961, पृ. 109.
15. वही, पृ. 19.
16. देखें : The Illegitimacy of Nationalism; Rabindranath Tagore and the Politics of Self, Ashis Nandy, Oxford University Press, New Delhi: 2000) p-xii.
17. रवींद्रनाथ टैगोर, गोरा, हिंदी अनुवादः अज्ञेय, साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली, 1961, पृ. 108.
18. Amiya Chakravarty (Edt.), A Tagore Reader, The Macmillan Company. 1967, p. 104
19. रवींद्रनाथ टैगोर, गोरा, हिंदी अनुवाद : 'सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय', साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली, 1961, पृ. 23.
20. वही, पृ. 377.
21. वही, पृ. 422.
22. Partha Chatterjee, The Nation and Its Fragments : Colonial and Post Colonial Histories, Princeton University Presss, Princeton, New Jersey, 1993.
23. रवींद्रनाथ टैगोर, गोरा, हिंदी अनुवाद : अज्ञेय, साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली, 1961, पृ. 96.
24. देबेश रॉय, गोरा : चिरकालेर समकाल, देस पत्रिका, 23 जनवरी, 1999, पृ. 25-31
25. रवींद्रनाथ टैगोर, गोरा, हिंदी अनुवाद : अज्ञेय, साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली, 1961, पृ. 114.
26. वही, पृ. 180.
27. वही, पृ. 123.
28. वही, पृ. 143.
29. वही, पृ. 144.
30. Tanika Sarkar, Rabindranath's Gora and the Intractable Problem of Indian Patriotism, EPW, Vol- 44, Issue No- 30, 25 Jul 2009
31. रवींद्रनाथ टैगोर, गोरा, हिंदी अनुवाद : अज्ञेय, साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली, 1961, पृ. 482.
32. वही, पृ. 486-87.
33. वही, पृ. 224.
34. वही, पृ. 283
35. वही, पृ. 354.
36. वही, पृ. 307.
37. वही, पृ. 433.
38. वही, पृ. 185.
39. वही, पृ. 166.
40. वही, पृ. 350
41. वही, पृ. 381.
42. वही, पृ. 366-67.
43. वही, पृ. 405.

रचनाकारों से संपर्क

- रामशंकर द्विवेदी : 9839617349
- श्रीनारायण पांडेय : 8004040576
- तनिका सरकार : sumitsarkar&2001@yahoo.co.uk
- मदन सोनी : 9425680897
- गोपाल प्रधान : 9560375988
- अबू सालेह : abusalehenglish@gmail.com
- वैभव सिंह : 9711312374
- अमरेन्द्र कुमार शर्मा : 8668813012
- रामकीर्ति शुक्ल : 9451585423
- धर्मराज कुमार : 9871931186